...लंका भारत-पाकिस्तानके बी...

...२२ जुलाई (वा.)। विदेशमंत्री ... आज लोकसभामें कहा कि ... भारत और पाकिस्तानके ... का अनुरोध किया है। ... नके लिखित उत्तरमें ... श्री लंकाके विदेशमंत्री ने ... दिल्लीमें उनसे भेंटके दौरान ... पाकिस्तानके विदेशमंत्रीने अपनी ... के समय उपर्युक्त इच्छा व्यक्त की ... किस्तानी विदेशमंत्रीका कहना था कि श्री ... यह बात भारततक पहुंचा दे कि पाकिस्तान पड़ोसी भारतके साथ बातचीत शुरू करनेके लिए तैयार है।

श्रीलंकाके विदेशमंत्रीने तब कहाकि वह दोनों देशोंके बीच बिचौलिया बननेके इच्छुक नहीं लेकिन वह पाकिस्तानका उपर्युक्त संदेश भारततक अवश्य पहुंचा देंगे क्योंकि श्रीलंकाके इन दोनों देशोंसे अच्छे संबंध है। श्री गुजरालने कहाकि भारतने श्रीलंकाको सूचित कर दिया कि वह भारत पाकिस्तान संबंधोंमें द्विपक्षीय मार्गका पक्षधर है तथा यह देश प्रधानमंत्री एच. डी. देवगौड़ाके इस संदेशके जवाबका इन्तजारकर रहा है जिसमें भारतने आपसी हितके सभी मामलोंपर

दुबईमें भारतीय- उन्होंने कहाकि संयुक्त अरब अमीरातसे इस वर्षके प्रथम छह माहके दौरान कुल पांच हजार ६८ भारतीयोंको वापस भारत भेजा गया है। ये लोग वीसा समाप्तिके बाद भी वहां टिके हुए थे।

पाक जेलोंमें भारतीय बच्चे- श्री गुजरालने कहाकि पाकिस्तानके एक समाचार पत्र 'डान' के अनुसार ३४ भारतीय बच्चे कराचीके इदी वेलफेयर सेंटरमें थे। इन्हें सितम्बर १९९४ में गिरफ्तार किया गया था। उन्होंने कहाकि सरकारने पाकिस्तानसे इन भारतीय बच्चोंके बारेमें

लोकसभामें प्रश्नोत्तर

पाकिस्तानी अधिकारियोंसे जानकारी मांगी है। इस्लामाबाद स्थित भारतीय उच्चायोगके अधिकारियोंके एक दलके कराची दौरेकी इजाजत भी मांगी गयी है।

मलेरिया मृत्यु- स्वास्थ्य और परिवार कल्याण राज्यमंत्री सलीम शेरवानीने बताया कि पिछले कुछ वर्षोंसे देशमें मलेरियाके मामलोंमें वृद्धि हुई है। १९९५ में देशभरमें मलेरियासे १०६१ लोगोंकी मृत्यु हुई। इनमेंसे सबसे अधिक ३००

...स्सके पी. सरोजनागी, ... बाजार पत्रिकाकी ... इंडियाकी स्मिता गुप्त ... ल्डके श्री.एसय अरुण और ... आई. कौशिश शामिल है।

दोषी मलायम

॥ ओ३म् ॥

यज्ञ-मीमांसा

अर्थात्

अग्निहोत्र दर्पण

□

लेखक

डॉ० रामनाथ वेदालंकार

भू. पू. आचार्य गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

एवं

अध्यक्ष दयानन्द पीठ,

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

□

प्रकाशक

दयानन्द संस्थान (न्यास)

वेद मन्दिर, नई दिल्ली-५

जनज्ञान-प्रकाशन ३०१ वाँ पुष्प

प्रकाशक
पण्डित राकेशरानी, अध्यक्ष
दयानन्द संस्थान, वेदमन्दिर

प्रधान कार्यालय
शहीद लेखराम नगर,
दिल्ली-३६,
दूरभाष : ८०१२११

दिल्ली कार्यालय
१५९७, हरध्यानसिंह मार्ग, करौल बाग,
नई दिल्ली-५
दूरभाष : ५६२६३९, ५६९८६१

□

सम्पादक
प्रो० धर्मवीर
अध्यक्ष
संस्कृत-विभाग, दयानन्द महाविद्यालय,
अजमेर-३०५००१

□

मूल्य : बीस रुपये

□

मुद्रक :
सतीशचन्द्र शुक्ल
प्रबन्धक : वैदिक यंत्रालय,
अजमेर-305001

सम्पादकीय

पाश्चात्य शोधकर्ता मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि नास्तिक व्यक्ति जीवन के प्रारम्भ में अतिशय उत्साहयुक्त प्रतीत होता है, परन्तु वह बहुत शीघ्र निराश और उत्साहहीन हो जाता है, जीवन का उत्तरार्ध उसे कठिन लगता है। यदि ऐसे समय उसमें ईश्वर-विश्वास जाग्रत किया जा सके तो बहुत शीघ्र नवजीवन का संचार हो सकता है। कारण मनुष्य अल्पज्ञ और अल्पसामर्थ्य वाला है। अपूर्णता, अभाव ही दुःख का कारण है इसीलिये ऋषि कहता है **"भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति"** स्वल्प सुख नहीं दे सकता अतः पूर्णता के लिए प्रयत्न आवश्यक है, इस पूर्णता को केवल आस्तिक भावना द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं, क्योंकि अपूर्ण के अवलम्बन से पूर्ण नहीं बन सकता, परन्तु पूर्ण का अवलम्बन व्यक्ति को पूर्णता का अनुभव करा सकता है। इसी कारण संसार के प्रायः सभी व्यक्ति अवलम्बन ग्रहण करते हैं, आस्तिक भी और नास्तिक भी। नास्तिक लोग भले ही ईश्वर को न मानें परन्तु उनकी आस्था का स्वीकृत आधार गुरु, सिद्ध, महापुरुष, नेता, स्मारक, पुस्तक कुछ भी क्यों न हो, वे उसके प्रति समर्पित होते हैं, क्योंकि व्यक्ति की पूर्णता की इच्छा उसे ऐसा करने के लिए बाध्य करती है। इस कारण ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक एवं सर्वज्ञ आदि विशेषण दिये गये हैं, उस पूर्ण का आश्रय, अवलम्बन ही अध्यात्म का मूलमन्त्र है, पूर्णता की ओर अग्रसर होने का मार्ग और सुख का आधार भी। ईश्वर को इस प्रकार के श्रेष्ठ गुणों से युक्त स्वीकार करने पर मनुष्य में जब आस्तिक बुद्धि का उदय होता है तभी यज्ञिय भावनाओं का विकास होता है, यज्ञीय भावना से वह देवों को भावित करता है और देवताओं की कृपा प्राप्त होती है, इससे ही परम श्रेय की प्राप्ति होती है **"परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'** इस भांति यज्ञ मनुष्य समाज का सर्वप्रकार हित साधन करने का ही दूसरा नाम है। इस प्रक्रिया से मनुष्य के भौतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत सभी उद्देश्य पूर्ण होते हैं। इसी कारण प्राचीन समाज व्यवस्था में पञ्च महायज्ञों की परम्परा दैनिक जीवन में अपनायी गयी। आज यज्ञ के नाम पर प्रचलित अनुचित एवं अनुपयोगी परम्पराएं उसमें स्वभावतः होने वाली जीर्ण-शीर्णता की प्रतीक हैं, क्योंकि बहुत लम्बे समय से उसमें परिमार्जन नहीं हो सका है।

वर्तमान काल में यज्ञ को कर्मकाण्ड की थोथी प्रक्रिया से उठाकर ज्ञान-विज्ञान का स्थान बतलाते हुए उसके आध्यात्मिक लक्ष्य की पुनः प्रतिष्ठा करने वाले महर्षि दयानन्द हैं। मध्यकालीन परम्परा में यज्ञ मात्र एक कर्मकाण्ड है, जिसमें विधियों की जटिलता सम्पादित कर पाना ही फल प्राप्ति का हेतु है, उसका कोई अन्य उच्च लक्ष्य नहीं है। इस प्रक्रिया में समय की धारा से आने वाली मलिनता के परिणामस्वरूप अवैज्ञानिकता आ जाने से यज्ञ

जनज्ञान-प्रकाशन ३०१ वाँ पुष्प

प्रकाशक
पण्डित राकेशरानी, अध्यक्ष
दयानन्द संस्थान, वेदमन्दिर

प्रधान कार्यालय
शहीद लेखराम नगर,
दिल्ली-३६,
दूरभाष : ८०१२११

दिल्ली कार्यालय
१५९७, हरध्यानसिंह मार्ग, करौल बाग,
नई दिल्ली—५
दूरभाष : ५६२६३९, ५६९८६१

□

सम्पादक
प्रो० धर्मवीर
अध्यक्ष
संस्कृत-विभाग, दयानन्द महाविद्यालय,
अजमेर-३०५००१

□

मूल्य : बीस रुपये

□

मुद्रक :
सतीशचन्द्र शुक्ल
प्रबन्धक : वैदिक यंत्रालय,
अजमेर–305001

सम्पादकीय

पाश्चात्य शोधकर्ता मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि नास्तिक व्यक्ति जीवन के प्रारम्भ में अतिशय उत्साहयुक्त प्रतीत होता है, परन्तु वह बहुत शीघ्र निराश और उत्साहहीन हो जाता है, जीवन का उत्तरार्ध उसे कठिन लगता है। यदि ऐसे समय उसमें ईश्वर-विश्वास जाग्रत किया जा सके तो बहुत शीघ्र नवजीवन का संचार हो सकता है। कारण मनुष्य अल्पज्ञ और अल्पसामर्थ्य वाला है। अपूर्णता, अभाव ही दुःख का कारण है इसीलिये ऋषि कहता है **"भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति"** स्वल्प सुख नहीं दे सकता अतः पूर्णता के लिए प्रयत्न आवश्यक है, इस पूर्णता को केवल आस्तिक भावना द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं, क्योंकि अपूर्ण के अवलम्बन से पूर्ण नहीं बन सकता, परन्तु पूर्ण का अवलम्बन व्यक्ति को पूर्णता का अनुभव करा सकता है। इसी कारण संसार के प्रायः सभी व्यक्ति अवलम्बन ग्रहण करते हैं, आस्तिक भी और नास्तिक भी। नास्तिक लोग भले ही ईश्वर को न मानें परन्तु उनकी आस्था का स्वीकृत आधार गुरु, सिद्ध, महापुरुष, नेता, स्मारक, पुस्तक कुछ भी क्यों न हो, वे उसके प्रति समर्पित होते हैं, क्योंकि व्यक्ति की पूर्णता की इच्छा उसे ऐसा करने के लिए बाध्य करती है। इस कारण ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक एवं सर्वज्ञ आदि विशेषण दिये गये हैं, उस पूर्ण का आश्रय, अवलम्बन ही अध्यात्म का मूलमन्त्र है, पूर्णता की ओर अग्रसर होने का मार्ग और सुख का आधार भी। ईश्वर को इस प्रकार के श्रेष्ठ गुणों से युक्त स्वीकार करने पर मनुष्य में जब आस्तिक बुद्धि का उदय होता है तभी यज्ञिय भावनाओं का विकास होता है, यज्ञीय भावना से वह देवों को भावित करता है और देवताओं की कृपा प्राप्त होती है, इससे ही परम श्रेय की प्राप्ति होती है **"परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'** इस भांति यज्ञ मनुष्य समाज का सर्वप्रकार हित साधन करने का ही दूसरा नाम है। इस प्रक्रिया से मनुष्य के भौतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत सभी उद्देश्य पूर्ण होते हैं। इसी कारण प्राचीन समाज व्यवस्था में पञ्च महायज्ञों की परम्परा दैनिक जीवन में अपनायी गयी। आज यज्ञ के नाम पर प्रचलित अनुचित एवं अनुपयोगी परम्पराएं उसमें स्वभावतः होने वाली जीर्ण-शीर्णता की प्रतीक हैं, क्योंकि बहुत लम्बे समय से उसमें परिमार्जन नहीं हो सका है।

वर्तमान काल में यज्ञ को कर्मकाण्ड की थोथी प्रक्रिया से उठाकर ज्ञान-विज्ञान का स्थान बतलाते हुए उसके आध्यात्मिक लक्ष्य की पुनः प्रतिष्ठा करने वाले महर्षि दयानन्द हैं। मध्यकालीन परम्परा में यज्ञ मात्र एक कर्मकाण्ड है, जिसमें विधियों की जटिलता सम्पादित कर पाना ही फल प्राप्ति का हेतु है, उसका कोई अन्य उच्च लक्ष्य नहीं है। इस प्रक्रिया में समय की धारा से आने वाली मलिनता के परिणामस्वरूप अवैज्ञानिकता आ जाने से यज्ञ

प्रक्रिया अग्राह्य हो चली थी, क्योंकि आवश्यकता और उपयोगिता के अभाव में वस्तु की ग्राह्यता स्वतः समाप्त होने लगती है और इस प्रकार इसकी उपयोगिता कर्मकाण्ड के अभेद्य आवरण से तिरोहित हो गई थी, ऐसी परिस्थिति में इसमें अरुचि होना स्वाभाविक था। स्वामी जी ने यज्ञ के मौलिक स्वरूप को उद्भावित करते हुये स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया कि यज्ञ शब्द का केवल रूढार्थ ही अग्निहोत्र है परन्तु यथार्थ में पृथिवी से लेकर परमात्मा पर्यन्त समस्त पदार्थों के ज्ञान-विज्ञान की प्रक्रिया का नाम यज्ञ है। यौगिक अर्थ जानने से इसका भली प्रकार बोध हो जाता है। इस प्रकार उन्होंने अनावश्यक जटिलता को दूर कर के कर्मकाण्ड की प्रक्रिया को साध्यकोटि से हटाकर उत्कृष्ट लक्ष्य के साधन के रूप में समाज के सन्मुख प्रस्तुत किया तथा इसे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सामञ्जस्य स्थापित करने का आधार बतलाया और कहा **'ये पञ्च महायज्ञा मनुष्यैर्नित्यं कर्त्तव्या'** पांच महायज्ञ मनुष्यों को प्रतिदिन करने चाहिएं। पांच यज्ञों में ब्रह्मयज्ञ = सन्ध्या, देवयज्ञ = अग्निहोत्र, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेव यज्ञ परिगणित हैं। प्रथम दो यज्ञ मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में आध्यात्मिक सुख और भौतिक उत्कर्ष को प्रदान करने वाले हैं तथा शेष तीन यज्ञों में से दो यज्ञों द्वारा पारिवारिक एवं सामाजिक अनुष्ठान का सम्पादन है तथा पांचवे महायज्ञ से प्राणिमात्र के कल्याण की भावना को व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया है। इस प्रकार प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य का ईश्वर को जानना, मानना और उपासना करना परम कर्तव्य है, अन्यथा वह कृतज्ञता आदि गुणों से रहित होकर कृतघ्नता आदि दोषों का भागी बनता है। इसलिए ब्रह्मयज्ञ अर्थात् ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना करना आवश्यक है ऐसा करने से स्तुति से स्तुत्य के स्वरूप का ज्ञान कथित होकर तत् सदृश गुण कर्म स्वभाव की सिद्धि होती है। प्रार्थना से निरभिमानता और उत्साह की प्राप्ति होती है तथा उपासना से परब्रह्म की प्राप्ति और साक्षात्कार संभव है। ऐसा करने से उपासना द्वारा आत्मिक बल की वृद्धि होकर कष्ट सहने का सामर्थ्य आ जाता है जिससे पर्वत के समान कष्ट वा दुःख आने पर भी मनुष्य राई के समान भी विचलित नहीं होता, यह लाभ किसी अन्य प्रकार से नहीं मिलता। देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र प्रतिदिन प्रातः-सायं दोनों समय किये जाने का विधान है। इसमें रोगनाशक, स्वास्थ्यकर, सुगन्धित पदार्थों का होम मन्त्र-पाठ द्वारा करते हैं। मन्त्र-पाठ से वेद-मन्त्रों के स्मरण से ज्ञान की रक्षा आदि प्रयोजन सिद्ध होते हैं। प्राचीन समय में बड़े-बड़े यज्ञ किये जाते थे, जिससे संसार में सुख व शान्ति का साम्राज्य था। यज्ञ की इस व्यापकता के परिणामस्वरूप कालान्तर में विधियों का लक्ष्य भूलकर मांसादि पदार्थों का- होम होने लगा, विधियों को लेकर रूढियां बन गईं, जिससे अग्निहोत्र मात्र एक रूढि बनकर रह गया। अग्निहोत्र की विधियों को लेकर आज भी विवाद देखने

में आता है। विवाद के स्थल और उनका समाधान इस पुस्तक में यथास्थान देखने को मिलेगा। यहां केवल इतना ही बतलाना अभिप्रेत है कि विधियों का निर्धारण यज्ञकर्म में सौकर्य व सामाजिक कर्त्तव्य में एकरूपता लाने के उद्देश्य से किया जाता है। जिस विधि को उचित समझा गया उसका प्रतिपादन कर दिया, उससे पाप पुण्य का कोई सम्बन्ध नहीं, यह साधन है मोक्ष तक पहुंचने का। लक्ष्य तक पहुंचने के लिए देशकाल परिस्थितियों के अनुसार इसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है, इससे कार्य की उपयोगिता में वृद्धि हो कर अधिक लाभ पहुंचता है। इस बात को लक्ष्य में रखकर पञ्चमहायज्ञविधि में विधान किया गया है-**'यद् यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत् कर्त्तव्यं नेतरत्'** अर्थात् जो जो आवश्यक और युक्तिसिद्ध है वह वह करना चाहिए अन्य नहीं। यह परिवर्तन कब, कैसे हो जिससे एकरूपता बनी रह सके, इसलिए परिवर्तन परिवर्धन का निर्णय विद्वानों के विचार का विषय है सामान्य जन के विवाद का नहीं। इस प्रकार देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र प्रकृति की सभी वस्तुओं का यथायोग्य उपकार लेने का प्रकार है। इससे अन्तःकरण में यज्ञिय भावनाओं का विकास होता है।

आज प्रकृति की दिव्य वस्तुओं का अविचारित उपयोग होने से सन्तुलन में न्यूनता आ रही है, इस प्रकार अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। प्रमुख रूप से जल वायु ध्वनि आदि प्रदूषण की समस्या प्रमुख रूप से आज हमारे सामने है-वायु जल देश काल इनके प्रदूषण से जीवन के प्रति संकट उत्पन्न होता जा रहा है। शास्त्रकार प्रदूषण का कारण प्रज्ञापराध को स्वीकार करते हैं-प्रज्ञापराध-कर्त्तव्यच्युति है, जब समाज में व्यक्ति सामूहिक उत्तरदायित्व से च्युत होता है, समस्त समाज को उसके परिणाम सहने पड़ते हैं। इसके मूल में यज्ञिय भावना का अभाव होता है। यज्ञ वृत्ति के अभाव में आयी सम्पन्नता से मनुष्य केवलादी हो जाता है, इस प्रकार 'केवलाघ' बनता है, क्योंकि अधिक भोजन से, शरीर में भारीपन, स्थूलता से श्रम के प्रति अरुचि, श्रम के अभाव में आलस्य और आलस्य के परिणामस्वरूप संचय करने की प्रवृत्ति का उदय होता है। इस प्रकार का व्यक्ति वस्तुओं का संग्रह करके परिग्रही बन जाता है, जिसका परिणाम लोभ का उदय है, लोभी व्यक्ति द्रोह का शिकार हो जाता है, परिणामतः असंत्याचरण एवं असत्यभाषण करता है, जिससे समाज में समस्त बुराई का प्रसार होता है और समाज में रागद्वेष काम क्रोध चिन्ता उद्वेग असहिष्णुता आदि असामाजिक प्रवृत्तियां व्यक्ति को घोर असामाजिक बना डालती हैं। व्यक्ति स्वार्थ-प्रेरित होकर छोटे लाभ के लिये असंख्य लोगों की असीम हानि करने में भी संकोच नहीं करता। इसी का बृहत् रूप जल वायु भूमि काल के प्रदूषण के रूप में आज संसार के सन्मुख आ रहा है। इससे बचने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अग्निहोत्र करने एवं स्वयं

में यज्ञीय भावना उत्पन्न करने की अत्यन्त आवश्यकता है, यह स्पष्ट है। यज्ञ समस्या का सार्वदेशिक सार्वकालिक समाधान होने से सबको ग्राह्य है।

प्रस्तुत पुस्तक यज्ञमीमांसा अर्थात् अग्निहोत्र-दर्पण यज्ञपरक ग्रन्थों में एक है। पुस्तक में यज्ञ को व्यापक रूप में देखा गया है, साथ ही यज्ञ की वैदिक प्रक्रिया को वेद के परिप्रेक्ष्य में देखा गया है, इस प्रकार यह शोध ग्रन्थ भी बन गया है। अपठित एवं सुपठित दोनों ही लोगों के लिए पुस्तक लाभकर होगी, यह पुस्तक का अनूठापन है। इस पुस्तक के द्वितीय दृश्य में यज्ञ के स्वरूप को वैदिक मन्त्रों में प्रतिपादित किया गया है। तृतीय दृश्य में विधि-परक विस्तृत विवेचन है। प्रथम व चतुर्थ दृश्य चिकित्सा शास्त्रीय सामाजिक एवं आत्मिक पक्ष को उजागर करते हैं।

अग्निहोत्र के मन्त्रार्थ करते समय स्त्री पुरुष का भेद करते हुए करता हूं, करती हूँ आदि प्रयोग किया है, यह अप्रचलित होने पर भी सोद्देश्य है। कारण वेद और यज्ञ को मध्यकाल में स्त्रियों से दूर रखा गया। उस भावना को नष्ट कर दूसरे दृश्य में सप्रमाण प्रतिपादित यज्ञ करने के अधिकार को पुष्ट करने के लिये यहां उभयविध अर्थ दर्शाया गया है। इससे महिलाओं में अपने कर्तव्य के प्रति जागरूकता आ सकेंगी और अधिकार को प्राप्त करने में स्वयं समर्थ हो सकेंगी।

ग्रन्थ लेखक मेरे आचार्य एव गुरुवर हैं उनकी पुस्तक का सम्पादन मात्र एक संयोग है, कारण पुस्तक को शुद्ध व सुन्दर छापने के उद्देश्य से अजमेर में छापने का निश्चय किया गया। परिणामतः मेरे लिये यह कार्य वहन करना अनिवार्य हो गया। पुस्तक के शुद्ध मुद्रण के साथ एकरूप रखने का संभव प्रयत्न किया गया है। सभी प्रमाणों के साथ-साथ संदर्भ टिप्पणी में दिये गये हैं ऐसा करना अद्यतन शोध प्रवृत्ति के अनुकूल है। उपलब्ध पुस्तकों से संदर्भों को शुद्ध कर लिया गया है। मन्त्र सस्वर छापे गये हैं। प्रमाण रूप में उद्धृत संस्कृत-भाग काले टाइप में छापा है जिससे उसमें स्पष्टता आ सके। इस प्रकार पुस्तक को शुद्ध एवं सुन्दर प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है, यदि स्वल्प भी सफलता प्राप्त हो सकी तो इसमें गुरुजनों का आशीर्वाद एवं उनका संभावना गुण ही कारण है।

□ **धर्मवीर**

१०-१२-८०
अजमेर

विषय-सूची

सूक्तियाँ

- ☐ **यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनो भूत्,** ऋग् ३.३२.१२
  हे आत्मन्, यज्ञ तुझे बढ़ाने वाला है।

- ☐ **अग्निर्नारीं वीरकुक्षिं पुरंधिम्,** ऋग् १०.८०.१
  यज्ञाग्नि नारी को वीरप्रसवा और बुद्धिमती बनाती है।

- ☐ **अग्निर्वृत्राणि दयते पुरूणि,** ऋग् १०.८०.२
  यज्ञाग्नि समस्त दुरितों का ध्वंस करती है।

- ☐ **अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण,** यजु ३.१७
  हे यज्ञाग्नि ! जो मेरे शरीर की न्यूनता है उसे भर दे।

- ☐ **अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभिः सह आयच्छस्व,** यजु ३.३८
  हे यज्ञाग्नि ! मुझे यश और बल प्रदान कर।

- ☐ **हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः,** यजु ३.४६
  वेदवाणी हविष्मान् मनुष्यों की वन्दना करती है।

- ☐ **इयं ते यज्ञिया तनूः,** यजु ४.१३
  हे मनुष्य ! यह मेरा शरीर यज्ञ के लिये है।

- ☐ **अग्ने त्वं सुजागृहि वयं सुमन्दिषीमहि,** यजु ४.१४
  हे यज्ञाग्नि ! तू भरपूर जाग, हम भरपूर आनन्दित हों।

- ☐ **यं कं च लोकमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत्,** यजु ८.६०
  जहां-जहां यज्ञ पहुँचा है, वहां से मेरा कल्याण हुआ है।

- ☐ **यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा,** यजु ८.६२
  यज्ञ का फल चतुर्दिक् फैलता है।

- ☐ **आ जुहोता हविषा मर्जयध्वम्,** साम ६३
  हवि की आहुति दो, पवित्र हो जाओ।

- ☐ **अग्निष्कृणोतु भेषजम्,** अथर्व ६.१०६.३
  यज्ञाग्नि तुम्हारे सब रोगों की चिकित्सा करे।

भूमिका

जिस कर्म में श्रद्धापूर्वक निर्धारित विधि के अनुसार, मन्त्र पाठ-सहित अग्नि में आहुति दी जाती हैं, उसका नाम अग्निहोत्र है। अग्निहोत्र वैदिक संस्कृति में प्रत्येक मनुष्य के लिए एक आवश्यक कर्तव्य है। शतपथ ब्राह्मण में एक कथा आती है—'ब्रह्म ने सभी प्रजाओं को मृत्यु के लिए दे दिया, केवल ब्रह्मचारी को नहीं दिया। मृत्यु ब्रह्म से बोला कि ब्रह्मचारी में भी मेरा भाग होना चाहिए। ब्रह्म ने कहा कि जिस रात्रि ब्रह्मचारी अग्नि में समिधा न देगा, उस रात्रि उसमें तेरा भाग होगा। अतः जिस रात्रि ब्रह्मचारी समिदाधान नहीं करता, उस रात्रि मृत्यु उसकी आयु से कुछ अंश ले लेता है।'[१] इस कथा से ब्राह्मणकार ने ब्रह्मचारी के लिए अग्निहोत्र की अनिवार्यता को ही बताया है। मनु ने भी ब्रह्मचारी के कर्तव्यों में अग्निहोत्र को विशेष स्थान दिया है।[२] गृहस्थ आश्रम में पंच महायज्ञ प्रत्येक सद्गृहस्थ को करने होते हैं, जिनमें देवयज्ञ या अग्निहोत्र भी है।[3] वानप्रस्थाश्रम में भी अग्निहोत्र नहीं छूटता।[४] संन्यास आश्रम में यद्यपि भौतिक अग्निहोत्र की अनिवार्यता नहीं रहती, तथापि आत्मिक अग्निहोत्र संन्यासी को भी करना ही होता है।[५]

शतपथ में लिखा है कि अग्निहोत्र 'जरामर्य सत्र' है, अर्थात् या तो शरीर के नितान्त जीर्ण और अशक्त हो जाने पर इससे छुटकारा मिलता है, या मृत्यु के उपरान्त।[६] शतपथ में ही यह भी कहा है कि 'अन्य सब यज्ञ तो एक न एक दिन समाप्त हो जाते हैं, फिर उनकी कर्तव्यता नहीं रहती, किन्तु अग्निहोत्र कभी समाप्त नहीं होता। सायं अग्निहोत्र कर चुकने पर अग्निहोत्री की यह भावना होती है कि प्रातः फिर करूंगा, प्रातः अग्निहोत्र करके वह यह सोचता है कि सायं फिर करूंगा। इस प्रकार जो अग्निहोत्र को अन्त न होने

---

१. शत. ११.३.३.१
२. अग्नीन्धनं भैक्षचर्याम्। मनु. २.१०८
३. अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा। मनु. ४.२५
४. अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्। मनु. ६.४
५. आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्। मनु. ६.३८
६. एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं, जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा। शत. १२.४.१.१

वाला मान कर करता है, वह अनन्त श्री और प्रजा वाला हो जाता है।'[1] शतपथ के ही एक कथानक के अनुसार—'प्रजापति ने प्रजाओं को उत्पन्न किया और अग्नि को भी। अग्नि उत्पन्न होते ही सबको जलाने लगी। यह देख सब उसे बुझाने लगे। तब वह पुरुष के पास आयी और यह समझौता किया कि मैं तुझी में प्रविष्ट हो जाती हूँ, तू मुझे उत्पन्न और धारण किया कर। जैसे तू इस लोक में मुझे उत्पन्न और धारण करेगा, वैसे ही मैं तुझे परलोक में उत्पन्न और धारण करूंगी। तदनुसार यजमान अब अग्न्याधान करता है, तब अग्नि को उत्पन्न और धारण करता है। अग्नि बदले में उसका परलोक सुधार देती है अर्थात् उसे उच्च कुल में मनुष्य-योनि प्राप्त होती है, या वह मुक्त हो जाता है।[2] इस कथानक में अग्निहोत्र को मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य बताने के साथ-साथ अग्निहोत्र का फल भी बताया गया है।

वेदों से भी अनेक मन्त्र मनुष्य को अग्निहोत्र के लिए प्रेरित करते हुए अग्निहोत्र की अवश्यकर्तव्यता की ओर इंगित करते हैं। यथा—

स्वाहा यज्ञं कृणोतन ॥[3]

यज्ञेन वर्धत जातवेदसम् ॥[4]

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ॥[5]

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन ॥[6]

१ २ ३ १ २
अग्निमिन्धीत मर्त्यः ॥[7]

सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत ॥[8]

महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं—'होम का करना अत्यावश्यक है।.... आर्यवर शिरोमणि महाशय ऋषि—महर्षि, राजे-महाराजे लोग बहुत सा होम करते और कराते थे। जब तक होम करने का प्रचार रहा, तब तक आर्यावर्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था अब भी प्रचार हो, तो वैसा ही हो जाय।'[9]

---

१. शत. २.३.१.१० २. शत. २.३.३.१-२
३. ऋग् १.१३.१२ ४. ऋग् २.२.१ ५. यजु ३.१
६. यजु ३.२ ७. साम ८२ ८. अथर्व ३.३०.६
९. स. प्र. समु. ३, देवयज्ञ प्रकरण

अग्निहोत्र काल

अग्निहोत्र सायं-प्रातः दोनों समय करना होता है। प्रमाणस्वरूप स. प्र., समु. ४ में स्वामी जी ने अथर्ववेद के निम्न मन्त्र उद्धृत किये हैं—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ॥१॥
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ॥२॥[1]

अर्थ यह किया है—जो सन्ध्या-सन्ध्या काल में होम होता है, वह हुत द्रव्य प्रातः काल तक वायु शुद्धि द्वारा सुखकारी होता है ॥१॥ जो अग्नि में प्रातः-प्रातः काल में होम किया जाता है, वह वह हुत द्रव्य सायंकाल पर्यन्त वायु के शुद्धि द्वारा बल, बुद्धि और आरोग्य कारक होता है ॥२॥

ऋग्वेद में कहा है—

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥[2]

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (वयम्) हम सब (दिवे दिवे) प्रति दिन (दोषावस्तः) सायं प्रातः (धिया) बुद्धि और सद्विचार पूर्वक (नमः[3]) हविष्यान्न को (भरन्तः[4]) लाते हुए (त्वा उप एमसि) तेरे समीप आते हैं।

तैत्तिरीय आरण्यक में लिखा है कि सायं-प्रातः अग्निहोत्र करने से घरों का उद्धार होता है।[5] स्वामी जी लिखते हैं—"जो ये दोनों काम (परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र) सायं और प्रातः काल में न करे, उसको सज्जन लोग सब द्विजों के कार्यों से बाहर निकाल देवें, अर्थात् उसे शूद्रवत् समझें।"[5]

इस प्रकार सायं प्रातः दोनों समय अग्निहोत्र का विधान है। तथापि आजकल के बहुधंधी युग में जो दोनों कालों में अग्निहोत्र करने के लिए समय नहीं निकाल सकते, उन्हें दृष्टि में रख कर पंचमहायज्ञविधि में एक काल का विकल्प भी स्वामी जी ने दिया है। 'अग्निर्ज्योतिः' आदि सायंकालीन चार मन्त्रों का उल्लेख करने के पश्चात् वहां स्वामीजी ने लिखा है—**एताभिः सायंकालेऽग्निहोत्रिणो जुह्वति। एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा।** अर्थात् 'इन चार

---

१. अथर्व. १९.५५.३.४ २. ऋग् १.१.७

३. नमः=अन्न (निघं. २.७)।

४. भरन्त=हरन्तः। हृञ् हरणे। हृग्रहोर्भश्छन्दसि।

५. अग्निहोत्रं सायंप्रातर्गृहाणां निष्कृतिः। तै. आ. १०.६३.१

आहुतियों को सायंकाल अग्निहोत्र में करना चाहिए, अथवा एक समय में आठों से।'

अब एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रातः और सायं से कौन से विशिष्ट काल अग्निहोत्र के लिए अभिप्रेत हैं। प्रातः से सूर्योदय-पूर्व का काल समझें या सूर्योदय-पश्चात् का? इसी प्रकार सायं से सूर्यास्त-पूर्व का काल गृहीत करें या सूर्यास्त-पश्चात् का? प्राचीन अग्निहोत्र-प्रक्रिया के अनुसार सूर्योदय-पूर्व (जब तारे दीखते हों), सूर्योदय-पश्चात् और समयाध्युषित (जब तारे दीखने बन्द हो जायें, किन्तु सूर्य न निकला हो) इन कालों में विकल्प था। जो अग्निहोत्री जिस काल को स्वीकार कर लेता था, उसे आयुपर्यन्त काल का निर्वाह करना होता था। किन्तु सायं काल का अग्निहोत्र सूर्यास्त के पश्चात् ही होता था।[1] प्रातः सायं से कौन सा काल गृहीत किया जाये, इस सम्बन्ध में स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में निम्न संकेत दिये हैं।

१. स. प्र., समु. ३—सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व अग्नि[2] होत्र का भी समय है।

२. स. प्र., समु. ४—दिन और रात्रि के सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए।

३. सं. वि., गृहाश्रमविधि—जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धि वेलाओं में सन्ध्योपासन करें, इसी प्रकार दोनों स्त्री-पुरुष अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें।

४. पंच मं. वि.—ब्रह्म का उपासक मनुष्य रात्रि और दिवस के सन्धि समय में नित्य उपासना करे।.........सन्ध्योपासन करने के पश्चात् अग्निहोत्र का समय है।

इन वचनों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि—१. सन्ध्योपासना दोनों समय सन्धि-वेलाओं में की जाती है। २. दोनों समय सन्ध्योपासना करने के पश्चात् ही अग्निहोत्र का समय है। ३. प्रातःकालीन अग्निहोत्र सन्धिवेला अर्थात् उषःकाल के व्यतीत हो जाने पर सूर्योदय के पश्चात् करना चाहिए। ४. सायंकालीन अग्निहोत्र सूर्यास्त से पूर्व करना लिखा है। परन्तु जब सन्ध्योपासना सायं-सन्धिकाल में की जायेगी और अग्निहोत्र उसके पश्चात् करना होगा, तब अग्निहोत्र सूर्यमण्डल के अस्त हो जाने पर ही घटित हो

१. द्रष्टव्य : वेदवाणी, मार्च १९८०, युधिष्ठिर मीमांसक का 'अग्निहोत्रादि अश्वमेधान्त श्रौतयज्ञ' शीर्षक लेख, पृ. २५।

सकता है। इस स्थिति में 'सूर्यास्त से पूर्व अग्निहोत्र का समय है', यह वचन प्रथम दृष्टि में असंगत प्रतीत होता है। इसकी संगति इस प्रकार लग सकती है कि पूर्ण सूर्यास्त तब समझना चाहिए, जब आकाश में तारे दीखने आरम्भ हो जायें। क्योंकि सायंकालीन अग्निहोत्र तारादर्शन से पूर्व ही करना अभीष्ट है, अतः वह 'सूर्यास्त से पूर्व' ही कहलायेगा, किन्तु सूर्यमण्डल के क्षितिज में अस्त होने के पश्चात् होगा।

स्वर्ग्य नौका

शतपथ में अग्निहोत्र को स्वर्ग (सुख या मोक्ष) प्राप्त कराने वाली नौका कहा गया है।[1] निम्न वेदमन्त्र भी ऐसी यज्ञरूप नौका का वर्णन करता है, जिस पर आरोहण करने से स्वस्ति की प्राप्ति होती है—

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥[2]

(सुत्रामाणं) उत्तम रक्षा करने वाली, (पृथिवीं) विशाल, (द्याम्) दीप्तिमयी, (अनेहसम्) पापरहित, (सुशर्माणं) शुभकल्याणदायिनी, (अदितिं) खंडित न होने वाली, (सुप्रणीतिं) उत्तम रूप से आगे ले जाने वाली (स्वरित्रां) यज्ञविधि रूप उत्तम चप्पुओं वाली (अनागसं) दोषरहित (अस्रवन्तीं) न चूने वाली (दैवीं नावं[3]) यज्ञरूपिणी दिव्य नौका पर (स्वस्तये[4]) सुख या मोक्ष की प्राप्ति के लिए (आरुहेम) हम आरोहण करें।

मन्त्रोच्चारण और मानसिक ध्यान

वेद कहता है कि यज्ञ में बैठ कर अग्नि में होम करने के साथ-साथ मन्त्रोच्चारण भी करें—**उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये।**[5] अपने मन को भी प्रवृत्त करें—**अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः।**[6] इससे क्या होगा? वायुशुद्धि और रोग-निवारण का लाभ

---

१. नौर्हि एषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम्। शत. २.३.३.१५
२. यजु. २१.६
३. दैवीं यज्ञमयीं नावम्—उवट।
४. स्वस्तये अविनाशाय—उवट।
५. तुलनीय : अग्निं वर्धन्तु नो गिरः, ऋग्. ३.१०.६, अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा, यजु. ३.४७।
६. तुलनीय : अग्निं हिन्वन्तु नो धियः, ऋग्. १०.१५६.१।

तो बिना मन्त्रोच्चारण और बिना मानसिक ध्यान के भी हो सकता है। परन्तु अग्निहोत्र का प्रयोजन केवल वायुशुद्धि या रोगनिवारण ही नहीं है। वाणी से मन्त्रों को बोलते हुए और मन से उन मन्त्रों का अर्थ चिन्तन करते हुए एवं निहित विधियों का अभिप्राय हृदयंगम करते हुए हम जो आत्मिक भोजन प्राप्त करते हैं, वह भी अग्निहोत्र की एक महत्त्वपूर्ण देन है विधियों और मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत पुस्तक में यथास्थान की गयी है। पाठक देखेंगे कि उन विधियों एवं मन्त्रों में कैसा चमत्कार भरा पड़ा है। हम मन्त्रों का उच्चारण करते हुए और तद्गत भावनाओं से अपने हृदय को आपूरित करते हुए होम करेंगे, तो हम अनुभव करेंगे कि अग्निहोत्र के आधे घंटे में ही हमने कितनी बड़ी उपलब्धि कर ली है, हमारा मन कितना प्रफुल्लित, उत्साहित, पूर्णता के लिए अग्रसर हो उठा है।

अग्निहोत्र की व्यापकता

जैसे हम भौतिक अग्नि में हव्य की आहुति देकर अग्निहोत्र करते हैं, वैसे अन्य क्षेत्रों में भी अग्निहोत्र हो रहा है। परमात्मा रूपी अग्नि में जीवात्मा, प्राण, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों को समर्पित करना आत्मिक अग्निहोत्र कहलाता है। बाह्य अग्निहोत्र के साथ-साथ अग्निहोत्री को यह आत्मिक अग्निहोत्र भी करना होता है तभी अग्निहोत्र की पूर्णता होती है। प्रस्तुत पुस्तक में अग्निहोत्र के मन्त्रों की व्याख्या में आत्मिक अग्निहोत्र को भी यत्र-तत्र स्पष्ट कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त अन्तिम प्रकरण में भी इसका स्वरूप प्रदर्शित किया गया है।

अधिदैवत में भी अग्निहोत्र हो रहा है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार पृथिवी अग्नि है, संवत्सर उसकी समिधा है, आकाश धुंआ है, रात्रि ज्वाला है, दिशाएं अंगारे हैं, अवान्तर दिशाएं चिनगारियाँ हैं। उस पृथिवी रूप अग्नि में वर्षा-जल की आहुति पड़ती है। उससे अन्न रूप फल उत्पन्न होता है।

पृथिवी वाव गौतम अग्निः, तस्याः संवत्सर एव समिद्, आकाशो धूमः, रात्रिः अर्चिः, दिशोऽङ्गाराः, अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति। तस्या तस्या आहुतेः मन्त्रं संभवति॥[1]

मनुष्य के शरीर में एक प्राणाग्निहोत्र हो रहा है। पुरुष ही अग्नि है,

१. छा. उ. ५.२

वाणी उसकी समिधा है, प्राण धुंआ है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अंगारे हैं, श्रोत्र चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में अन्न की आहुति पड़ती है। उससे रेतस् रूप फल उत्पन्न होता है।

पुरुषो वाव अग्निः, तस्य वागेव समित्, प्राणेत धूम, जिह्वा अर्चिः, चक्षुः अङ्गारा, श्रोत्रं विस्फुलिङ्गा। तस्मिन्ने-तस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुतेः रेतः संभवति ।।[1]

छान्दोग्य उपनिषद् में प्राणाग्निहोत्र का एक अन्य स्थान पर भी बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है। ऋषि कहते हैं कि जो अन्न भोजनार्थ आये, अग्निहोत्र-बुद्धि से उसका सेवन करे। प्रथम आहुति प्राण को दे—**प्राणाय स्वाहा**। द्वितीय आहुति व्यान को दे—**व्यानाय स्वाहा**। तृतीय आहुति अपान को दे—**अपानाय स्वाहा**। चौथी आहुति समान को दे—**समानाय स्वाहा**। पांचवीं आहुति उदान को दे—**उदानाय स्वाहा**। जो अग्निहोत्र की भावना से भोजन करता है, उसके भोजन से केवल उसी की तृप्ति नहीं होती, किन्तु वैश्वानर महान् आत्मा की तृप्ति होती है। उससे सब आत्माओं को हवि पहुँचती है।

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति, तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ।।[2]

इसी प्रकार 'वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम' की भावना से राष्ट्र की अग्नि में अपने तन, मन या धन आहुति देना राष्ट्राग्निहोत्र है। आचार्य रूप अग्नि में प्रदीप्त होने के लिए शिष्य का अपने आप को समिधा बना कर अर्पित करना आचार्याग्निहोत्र है। एव प्रत्येक क्षेत्र में अग्निहोत्र हो रहा है। उसी का एक प्रतीक हमारा दैनिक अग्निहोत्र है।

अग्निहोत्र के लाभ

अग्निहोत्र के लाभों की सूची अनन्त है। वायुशुद्धि, आरोग्य, दीर्घायुष्य, वर्षा, दूध, अन्न, धन, बल, ऐश्वर्य, सन्तान, पुष्टि, निष्पापत्व, सच्चरित्रता, जागृति, शत्रुविनाश, आत्मरक्षा, यश, तेजस्विता, वर्चस्विता, सद्विचार, सत्कर्म, इन्द्रियशक्ति, आनन्द, परिपूर्णता, मोक्ष आदि की प्राप्ति अग्निहोत्र से बतायी गयी है। इनमें से कुछ लाभ साक्षात् सुगन्धि, पुष्टिप्रद, मिष्ट, रोग-नाशक हव्यों की आहुति से प्राप्त होते हैं, कुछ अग्नि के गुणों का चिन्तन करने तथा उसके द्वारा प्रेरणा प्राप्त करने से होते हैं। वेद कहता है—

---

१. छा. उ. ५.३   २. छा. उ. ५.२४ (अथर्व. १२.१.६२)

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि ।
सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा ॥[1]

हे यज्ञाग्नि ! तू (सहस्रस्य प्रमा असि) आधिभौतिक या शारीरिक सहस्र लाभों का प्रकृष्टतया निर्माण करने वाली है, (सहस्रस्य प्रतिमा असि) आधिदैविक सहस्र लाभों का प्रतिनिधि है, (सहस्रस्य उन्मा असि) आध्यात्मिक सहस्र लाभों की तुला है, (साहस्रः असि) सहस्र गुणों को देने योग्य है । अतः (सहस्राय त्वा) सहस्र फलों को प्राप्त करने के लिए मैं तुझे प्रज्वलित करता हूँ ।

यजुर्वेद, अध्याय १८ में यज्ञ से प्राप्त होने वाले लाभों की एक विस्तृत सूची दी गयी है । उदाहरणार्थ निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

ऋतं च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

अर्थात् सत्याचरण, अमृतत्व, यक्ष्माभाव, आरोग्य, जीवन, दीर्घायुष्य, अशत्रुत्व, अभय, सुख, अच्छी निद्रा, शोभन उषा, सुदिनत्व ये सब हवन-यज्ञ द्वारा मुझे प्राप्त हों ।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पताम् आत्मा यज्ञेन कल्पताम् ॥[3]

अर्थात् आयु हवन-यज्ञ से समर्थ हो, प्राण हवन-यज्ञ से समर्थ हो, चक्षु हवन-यज्ञ से समर्थ हो, श्रोत्र हवन-यज्ञ से समर्थ हो, वाणी हवन-यज्ञ से समर्थ हो, मन हवन-यज्ञ से समर्थ हो, आत्मा हवन-यज्ञ से समर्थ हो ।

प्रस्तुत पुस्तक

प्रस्तुत पुस्तक 'अग्निहोत्र-दर्पण' में चार दृश्य हैं । प्रथम में वैदिक यज्ञ-चिकित्सा की झांकी है । इसमें वेदमन्त्र देते हुए यह दिखाया गया है कि यज्ञ

---

१. यजु. १५.६५ २. यजु १८.६ ३. यजु १८.२९

में विविध ओषधियों का होम करने एवं उसकी धूनी लेने से अनेक रोगों की चिकित्सा हो सकती है। सभी पाठकों का ध्यान रखते हुए मन्त्रों के शब्दार्थ और भाषा प्रवाह को बनाये रखने के लिये भावार्थ भी दिया है। यह यज्ञचिकित्सा बड़ी ही वैज्ञानिक एवं शीघ्र-प्रभाव-कारिणी है। सूचीवेध (इंजेक्शन) द्वारा जैसे औषध सीधे रक्त में पहुँच जाती है, वैसे ही यज्ञिय धूम का फुफ्फुस में रक्त-कोशिकाओं द्वारा सीधा रक्त से सम्पर्क होता है। आयुर्वेद में भी ओषधियों की धूनी लेने से विविध रोगों की चिकित्सा का वर्णन है। अग्नि में ओषधियों की आहुति देते हुए रोगनिवारक वेदमन्त्र भी पढ़ने उचित हैं। उससे रोगी का मनोबल जागता है, तथा रोग के त्वरित दूर होने में सहायता मिलती है।

द्वितीय दृश्य में अग्निहोत्र के प्रेरक तथा लाभ-प्रतिपादक १२० वेदमन्त्र अर्थसहित दिये गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक संस्कृति में अग्निहोत्र का क्या स्थान है तथा वेदों में इसके कितने व्यापक लाभ वर्णित किये गये हैं। जो पति-पत्नी नित्यप्रति अग्निहोत्र करते हैं, वे जीवन-संग्राम में कभी पिछड़ते नहीं, किन्तु वीर सन्तानों सहित सदा आगे ही आगे बढ़ते चलते हैं।

तृतीय दृश्य में अग्निहोत्र-सम्बन्धी विधियों तथा मन्त्रों की विशद व्याख्या उपस्थित की गयी है। अग्निहोत्र-पद्धति महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि के सामान्य प्रकरण तथा गृहाश्रम-विधि से ली गयी है। इसमें क्रमशः विधियाँ इस प्रकार हैं—आचमन, अंगस्पर्श, अग्न्याधान, अग्निप्रदीपन, समिदाधान, पांच घृताहुतियाँ, जलप्रोक्षण, चार आघारावाज्यभागाहुतियाँ, प्रधान होम की प्रातःकालीन आहुतियाँ, सायंकालीन आहुतियाँ, प्रातः सायं दोनों काल के समान मन्त्र पूर्णाहुति। विधियों एवं मन्त्रों की व्याख्या में यत्र-तत्र शोधात्मक टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं। व्याख्या में यथास्थान अध्यात्म व्याख्या भी दी है।

चतुर्थ दृश्य में दो संक्षिप्त झांकियाँ है। प्रथम में आत्मिक अग्निहोत्र का एक चित्र उपस्थित किया है, जिसमें दिखाया गया है कि आत्मिक अग्निहोत्र में अग्नि क्या है और इसमें समिधाओं तथा घृत की आहुति का क्या आशय होता है। दूसरी झांकी में अग्निहोत्र के भावनात्मक लाभों का प्रदर्शन है। आशा है पाठक इस पुस्तक में अब तक प्रकाशित अग्निहोत्र-व्याख्याओं की अपेक्षा नवीनता पायेंगे।

इस पुस्तक के प्रकाशनार्थ राय साहिब चौ० श्री प्रतापसिंह जी ५७ एल, माडल टाउन, करनाल ने अपने धर्मार्थ न्यास की ओर से ५०१ रु. की आंशिक सहायता प्रदान की है। पुस्तक का प्रकाशन दयानन्द संस्थान, वेदमन्दिर; नई दिल्ली की ओर से हुआ है। उक्त संस्थान के संचालक श्री महात्मा वेद-भिक्षु जी तथा अध्यक्ष श्रीमती राकेश रानी जी के प्रति लेखक आभार प्रकट करता है।

पंतनगर (नैनीताल)
२५-६-१९८०

रामनाथ वेदालंकार

प्रथम दृश्य

वैदिक यज्ञ-चिकित्सा

भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों में से यज्ञ एक है। यह कहना अधिक ठीक है कि यज्ञ भारतीय संस्कृति का प्राण है। आर्य मानव जब माता के गर्भ में होता है, तभी यज्ञ द्वारा संस्कृत होना प्रारम्भ हो जाता है। यज्ञ के वातावरण में ही वह जन्म लेता है, यज्ञ द्वारा ही पालित-पोषित होता है, यज्ञ में ही अपना समग्र जीवन व्यतीत करता है, अन्त में यज्ञ द्वारा ही अपनी इहलोकलीला को समाप्त करता है। जीवन में उसे दैनिक अग्निहोत्र, पंचयज्ञ, षोडश संस्कार तथा अन्य कई श्रौत यज्ञ तो करने होते ही हैं पर शास्त्रकारों ने यहां तक कहा है कि वह अपने सम्पूर्ण जीवन को ही यज्ञ रूप समझे। उपनिषद् में लिखा है—

"पुरुषो वाव यज्ञः।"[1]

मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है। उसकी आयु के जो प्रथम चौबीस वर्ष हैं वे मानो प्रातः सवन हैं, अगले चौबीस वर्ष माध्यन्दिन सवन हैं, अगले अड़तालीस वर्ष तृतीय सवन हैं। इस प्रकार यह ११६ वर्ष चलने वाला यज्ञ है। मनुष्य को चाहिए कि इसे मध्य में ही आधि-व्याधियों से खण्डित न होने दे।

---

१. छान्दोग्य, ३।१६

भारतीय विचार-धारा के रोम-रोम में ओत-प्रोत यह यज्ञ दो दृष्टियों से अपनी महत्ता रखता है। एक तो भावना की दृष्टि से, दूसरे बाह्य लाभों की दृष्टि से। भावना की दृष्टि से यज्ञ मनुष्य के अन्दर त्याग, समर्पण, परोपकार, ऊर्ध्वगामिता, आन्तरिक शत्रुओं का दमन, तेजस्विता, देवपूजा, शान्ति, संगठन आदि भावनाओं को उद्बुद्ध करता है। बाह्य लाभों की दृष्टि से यह वायु-मण्डल को शुद्ध करता है और रोगों तथा महामारियों को दूर करता है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने यज्ञ का ऐसा वैज्ञानिक सूक्ष्म अध्ययन किया था कि वे प्राकृतिक रूप से वर्षा न होने पर वृष्टि-यज्ञ द्वारा वर्षा करा लिया करते थे। वे खेतों में खड़ी हुई फसल में कीड़े लग जाने पर उनके विनाश के लिए भी यज्ञ का प्रयोग करते थे और यज्ञ के धूम द्वारा पौधों को खाद भी देते थे। किसी स्त्री के सन्तान न होने पर पुत्रेष्टि-यज्ञ द्वारा वे उसे सन्तान प्राप्त करा सकते थे। ये सब यज्ञ के बाह्य लाभ कहे जा सकते हैं। वेदों में यज्ञ द्वारा चिकित्सा का भी वर्णन मिलता है, यह इस दृश्य में दर्शाया गया है।

रोगोत्पादक कृमियों का विनाश

अथर्ववेद १।२।३१,३२;४।३७ तथा ५।२३, २९ में अनेक प्रकार के रोगोत्पादक कृमियों का वर्णन आता है। वहां इन्हें यातुधान, क्रव्याद्, पिशाच, रक्षः आदि नामों से स्मरण किया गया है। ये श्वासवायु, भोजन, जल आदि द्वारा मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर या मनुष्य को काट कर उसके शरीर में रोग उत्पन्न करके उसे यातना पहुँचाते हैं अतः ये 'यातुधान' हैं। शरीर के मांस को खा जाने के कारण ये 'क्रव्याद्' या 'पिशाच' कहलाते हैं। इनसे मनुष्य को अपनी रक्षा करना आवश्यक हो जाता है, इसलिए ये 'रक्षः' या 'राक्षस' हैं। यज्ञ द्वारा अग्नि में कृमि-विनाशक ओषधियों की आहुति देकर इन रोगकृमियों को विनष्ट कर रोगों से बचाया जा सकता है। अथर्ववेद में कहा है—

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः॥

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने॥[1]

---

१. अथर्व० १।८।१,४

(इदं हविः) यह हवि (नदी फेनम् इव) जैसे नदी झाग को वहा ले जाती है, वैसे ही (यातुधानान्) यातनादायक रोगकृमियों को (आवहत्) दूर वहा ले जाये (यः स्त्री पुमान्) जो कोई स्त्री या पुरुष (इदम् अकः) इस हवि को करे (स जनः) वह जन (इह) इस यज्ञ में (स्तुवताम्) मन्त्रोच्चारण द्वारा अग्नि का स्तवन=गुणवर्णन भी करे।

(जातवेदः अग्ने) हे प्रकाशक यज्ञाग्नि ! (यत्र) जहां (गुहा सतां) गुप्त से गुप्त स्थानों में छिपे बैठे हुए (अत्त्रिणाम् एषां) भक्षक इन रोगकृमियों के (जनिमानि) जन्मों को (वेत्थ) तू जानता है (ब्रह्मणा वावृधानः) वेदमन्त्रों के साथ बढ़ता हुआ (त्वम्) तू (तान्) उन रोगकृमियों को, वहां से (जहि) नष्ट कर दे। इस प्रकार (अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (एषाम्) इन रोगकृमियों से होने वाली (शततर्हं) सैंकड़ों प्रकार की हिंसाओं या हानियों को (जहि) निवृत्त कर दे।

'अग्नि में डाली हुई यह हवि रोगकृमियों को उसी प्रकार दूर बहा ले जाती है, जिस प्रकार नदी पानी के झागों को। जो कोई स्त्री या पुरुष इस यज्ञ को करे, उसे चाहिए कि वह हवि डालने के साथ मन्त्रोच्चारण द्वारा अग्नि का स्तवन भी करे। हे प्रकाशक अग्ने ! गुप्त से गुप्त स्थानों में छिपे बैठे हुए भक्षक रोगकृमियों के जन्मों को तू जानता है। वेदमन्त्रों के साथ बढ़ता हुआ तू उन रोगकृमियों को नष्ट कर दे और इनसे होने वाली सैकड़ों हानियों को निवृत्त कर।'

इस वर्णन से स्पष्ट है कि मकान के अन्धकारपूर्ण कोनों में, सन्दूक-पीपे आदि सामान के पीछे, दीवार की दरारों में तथा गुप्त से गुप्त स्थानों में जो रोगकृमि छिपे बैठे रहते हैं, वे कृमिहर ओषधियों के यज्ञिय धूम से विनष्ट हो जाते हैं।

अथर्ववेद (५।२९) से इस विषय पर और भी अच्छा प्रकाश पड़ता है।

अक्ष्यौ निविध्य हृदयं निविध्य जिह्वां नितृन्द्धि प्र दतो मृणीहि।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि ॥[1]

(यविष्ठ अग्ने) हे प्रवृद्धतम यज्ञाग्नि ! (यतमः पिशाचः) जिस मांसभक्षक कृमि ने (अस्य) इस मनुष्य को (जघास) अपना ग्रास बनाया है, (तम्) उसे (प्रतिशृणीहि) विनष्ट कर दे। उसकी (अक्ष्यौ निविध्य) आंखें फोड़ दे, (हृदयं निविध्य) हृदय को बींध दे, (जिह्वां नितृन्धि) जीभ को काट दे, (दतः प्र मृणीहि) दांतों को तोड़ दे।

१. अथर्व० ५।२९।४

'हे यज्ञाग्ने ! जिस मांसभक्षक रोगकृमि ने इस मनुष्य को अपना ग्रास बनाया है, उसे तू विनष्ट कर दे। उसकी आंखें फोड़ दे, हृदय चीर दे, जीभ काट दे, दाँत तोड़ दे।'

आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वियातयन्तामगदोऽयमस्तु॥

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये यः० ॥
अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्० ॥

दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्।
तदात्मना प्रजया पिशाचा, वियातयन्तामगदोऽयमस्तु॥[1]

(आमे) कच्चे, (सुपक्वे) पूर्णतः पके, (शबले) अधपके, या (विपक्वे) तले हुए (अशने) भोजन में प्रविष्ट होकर (यः पिशाचः) जिस मांसभक्षक रोगकृमि ने (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुँचायी है, (क्षीरे) दूध में (मन्थे) मठे में, (अकृष्ट पच्ये अशने) बिना खेती के पकने वाले जंगली अन्न में, (धान्ये) कृषिजन्य धान्य में प्रविष्ट होकर (यतमः) जिस रोगकृमि ने (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुँचायी है; (अपां पाने) पानी पीते समय और (शयने शयानं) बिस्तर पर सोते हुए, (दिवा) दिन में (नक्तं) रात्रि में (यातूनां यतमः क्रव्याद्) यातनादायक रोगकृमियों में से जिस मांसभक्षक रोगकृमि ने (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुँचायी है, (तत्) वह (आत्मना) स्वयं, तथा (पिशाचाः) अन्य मांसभक्षक कृमि (प्रजया) सन्तति-सहित, यज्ञाग्नि द्वारा (वि यातयन्ताम्) विनष्ट कर दिये जायें, जिससे (अयम्) यह मेरा देह (अगदः अस्तु) नीरोग हो जाये।

'कच्चे, पक्के, अधपके या तले हुए भोजन में प्रविष्ट होकर जिन मांसभक्षक रोगकृमियों ने मुझे हानि पहुँचायी है, वे सब रोगकृमि तु हे यज्ञाग्ने ! तेरे द्वारा सन्तति-सहित विनष्ट हो जायें, जिससे कि यह मेरा देह नीरोग हो। दूध में, मठे में, बिना खेती के पैदा हुए जंगली धान्य में, कृषिजन्य धान्य में, पानी में, बिस्तर पर सोते हुए, दिन में या रात में जिन रोगकृमियों ने मुझे हानि पहुँचायी है, वे सब तु हे यज्ञाग्ने ! तेरे द्वारा सन्तति-सहित विनष्ट हो जायें, जिससे कि यह मेरा देह नीरोग हो'।

---

१. अथर्व० ५।२९।६-९

इन मन्त्रों से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार बाहर गुप्त स्थानों में छिपे हुए रोगकृमि यज्ञ द्वारा विनष्ट हो सकते हैं, उसी प्रकार दूध, पानी, अन्न, वायु आदि के माध्यम से शरीर के अन्दर पहुँचे हुए रोगकृमि भी नष्ट हो सकते हैं और शरीर स्वस्थ हो सकता है।

ज्वर-चिकित्सा

'यज्ञाग्नि द्वारा ज्वर तथा ज्वर के सहकारी कास, शिरः पीड़ा, अंगों का टूटना आदि भी दूर हो सकते हैं यह अथर्व० १।१२ तथा ५।२२ सूक्तों से ज्ञात होता है।

अङ्गे अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणम् नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम ।
अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत् पर्वास्या ग्रभीता ॥[1]

हे ज्वर ! (अङ्गे अङ्गे) अंग-अंग में (शोचिषा) ताप के साथ (शिश्रियाणम्) व्याप्त हुए-हुए (त्वा) तेरा (हविषा नमस्यन्तः) हवि द्वारा अग्निहोत्र करते हुए (विधेम) हम प्रतिकार करें। (ग्रभीता यः) अंगों को जकड़ने वाले जिस ज्वर ने (अस्य) इस मनुष्य के (पर्व) अंगों को (अग्रभीत्) जकड़ लिया है, उसके लिए (हविषा) हवि द्वारा (समङ्कान्) पकड़ने वाले (अङ्कान्) पाशों को (विधेम) तैयार करें।

'हे ज्वर ! अंग-अंग में ताप के साथ व्याप्त हुए तेरा प्रतिकार हम हवि के द्वारा करते हैं। अंगों को जकड़ने वाले जिस ज्वर ने इस रोगी के अंगों को जकड़ लिया है, उसके लिए हवि के द्वारा हम पाशों को तैयार करते हैं।'

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य ।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥[2]

हे सूर्य ! अग्निहोत्र की हवि के साथ मिलकर तू (एनं) इस रोगी को (शीर्षक्त्या) शिरःपीडा से (मुञ्च) मुक्त कर दे। (उत) और (यःकासः) जो खांसी तथा (यः) जो (अभ्रजाः) श्लेष्मजन्य (वातजाः) वातजन्य और (शुष्मः) शोषकपित्तजन्य ज्वर (अस्य) इस रोगी के (परुः परुः) अंग-अंग में (आविवेश) व्याप्त हो गया है, वह (वनस्पतीन्) वृक्षों से (पर्वतान् च) और पर्वतों से (सचताम्) टकराये, अर्थात् पूर्णतः विनष्ट हो जाये।

१. अथर्व० १।१२।२ २. अथर्व० १।१२।३

'हे सूर्य ! हवि के साथ मिल कर तू इस रोगी को शिरःपीड़ा से मुक्त कर। जो इसे खांसी ने सताया हुआ है, उससे इसे छुड़ा। जो श्लेष्मजन्य, वातजन्य या पित्तजन्य ज्वर इसके अंग-अंग में व्याप्त हो गया है, वह शरीर से निकल कर वृक्षों और पर्वतों से टक्कर खाता फिरे।'

अग्निस्तक्मानमपबाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अपद्वेषांस्यमुया भवन्तु ॥
अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोषि उच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन्।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि ॥[1]

(अग्निः) हे यज्ञाग्नि ! (इतः) यहां से (तक्मानम्) ज्वर को (अपबाधताम्) दूर भगा दे। (सोमः) सोमरस, (ग्रावा) यज्ञिय सिल-बट्टे (पूतदक्षाः वरुणः) पवित्र बल को देने वाला सूर्य, (वेदिः) यज्ञवेदि, (बर्हिः) कुशा और (शोशुचानाः समिधः) प्रज्वलित समिधाएं (अमुया) इस स्थान से या इस रुग्ण शरीर से (द्वेषांसि) ज्वरजन्य उपद्रवों को (अपभवन्तु) दूर करें।

(तक्मन्) हे ज्वर ! (अयं यः) यह जो तू (उच्छोचयन्) शरीर को अत्यधिक तप्त करता हुआ, (अग्निः इव अभिदुन्वन्) आग के समान अभिभूत करके पीड़ित करता हुआ (विश्वान्) सबको (हरितान्) पीला (कृणोषि) कर देता है, वह तू (अध हि) हमारे उपचार के उपरान्त (अरसः हि भूयाः) निर्वीर्य हो जा (अध) और (न्यङ्) तिरछे रोम-कूपों से स्वेदादि द्वारा (अधराङ् वा) या मल मूत्रादि द्वारा नीचे से (परेहि) शरीर से बाहर निकल जा।

'यज्ञाग्नि यहाँ से ज्वर को दूर भगा देवे। सोमरस, यज्ञिय सिल-बट्टे, पवित्र बल को देने वाला सूर्य, वेदि, कुशा, प्रज्वलित समिधाएं ये समस्त यज्ञांग ज्वर-निवारण में सहायक हों। इस विधि से द्वेषकारी सब ज्वरजन्य उपद्रव दूर हो जायें। हे ज्वर ! जो तू अपने ताप से तप्त करता हुआ, पीड़ित करता हुआ, सबको पीले शरीर वाला कर देता है, वह तू यज्ञाग्नि द्वारा निर्वीर्य हो जा, शरीर से बाहर निकल जा।

यत् त्वं शीतोऽथो रूरः सह कासाऽवेपयः।
भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्म परिवृङ्ग्धि नः ॥

---

१. अथर्व० ५।२२।१,२

तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम् ।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥[1]

(तक्मन्) हे ज्वर ! (तत् त्वं) जो तू (शीतः) शीत रूप है, (अथो रूरः) या उष्णरूप है, (कासा सह) खांसी के साथ (अवेपयः) कंपाता है, (ते हेतयः) तेरे ये सब हथियार (भीमाः) बड़े भयानक हैं, (ताभिः) उनके साथ (नः परिवृङ्ग्धि स्म) हमें छोड़ दे ।

हे यज्ञाग्नि ! (तृतीयकं) तीसरे दिन चढ़ने वाले, (वितृतीयं) चौथे दिन चढ़ने वाले, (सदन्दि) अविरत चढ़े रहने वाले (उत शारदम्) और वर्ष बाद चढ़ने वाले, (ग्रैष्मं) ग्रीष्म में होने वाले, (वार्षिकम्) वर्षा में होने वाले (शीत) शीत या (रूरं) उष्ण (तक्मानं) ज्वर को (नाशय) नष्ट कर दे ।

'हे ज्वर ! जो तू शीतरूप है, या उष्णरूप है, खांसी से प्रकम्पित करता है, तेरे ये सब हथियार बड़े भयानक हैं, उनसे तू हमें बचाये रख । हे यज्ञाग्नि ! जो तीसरे दिन चढ़ने वाला, चौथे दिन चढ़ने वाला, प्रतिदिन चढ़ा रहने वाला, ग्रीष्म में होने वाला, वर्षा में होने वाला, शीत या उष्ण ज्वर है, उसे तू नष्ट कर ।'

उन्माद-चिकित्सा

अथर्ववेद में यज्ञाग्नि द्वारा उन्माद रोग की चिकित्सा का वर्णन मिलता है ।

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति ।
अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यथाऽनुन्मदितोऽसति ॥[2]

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (अयं यः) यह जो उन्मत्त पुरुष (बद्धः) बांधा हुआ, (सुयतः) सुनियन्त्रित किया हुआ (लालपीति) असंबद्ध प्रलाप कर रहा है, (इमं मे पुरुषं) इस मेरे पुरुष को (मुमुग्धि) उन्माद-रोग से मुक्त कर दे । (अतः अधि) स्वस्थ हो जाने के बाद भी वह (ते भागधेयं कृणवत्) तेरे लिए हविर्भाग प्रदान करता रहे, (यथा) जिससे (अनुन्मदितः असति) भविष्य में भी उन्मादरहित रहे ।

'हे यज्ञाग्ने ! यह जो उन्माद रोग से ग्रस्त पुरुष कस कर बंधा हुआ असम्बद्ध प्रलाप कर रहा है, उसे तू इस रोग से मुक्त कर दे । जब वह तेरी कृपा से इस रोग से छूट जाये तब भी वह तुझे हविर्भाग प्रदान करता रहे, जिससे कि फिर कभी उन्मत्त न हो ।'

---

१. अथर्व० ५।२२।१०,१३ २. अथर्व० ६।१११।१

अ॒ग्निष्टे॒ निशमयतु॒ यदि॑ ते॒ मन॒ उद्युतम् ।
कृ॒णोमि॑ वि॒द्वान् भे॑ष॒जं यथानु॑न्मदि॒तोऽससि ॥[1]

हे मनुष्य ! (यदि ते मनः) यदि तेरा मन (उद्युतम्) उन्माद-युक्त हो गया है तो (अग्निः) यज्ञाग्नि (ते) तेरे मन को (निशमयतु) पूर्णतः शान्त कर दे। (विद्वान्) यज्ञ-चिकित्सा को जानने वाला मैं (ते भेषजं कृणोमि) तेरी चिकित्सा करता हूँ (यथा) जिससे तू (अनुन्मदितः) उन्माद-रहित (अससि) हो जाये।

'हे मनुष्य ! यदि उन्माद के कारण तेरा मन उद्दीप्त हो गया है, तो यज्ञाग्नि उसे पूर्णतः शान्त कर दे। यज्ञचिकित्सा को जानने वाला मैं तेरा इलाज करता हूं जिससे कि तू उन्मादरहित हो जाये।'

इन मन्त्रों से यह ज्ञात होता है कि यदि कोई मनुष्य उन्मत्त हो जाये, उसकी अवस्था ऐसी बिगड़ जाये कि वह असम्बद्ध बातें बोलता रहे, काटने-मारने को दौड़ता हो, यहां तक कि उसे रस्सी से बांध कर रखने की आवश्यकता पड़े, उस हालत में भी वह यज्ञचिकित्सा से स्वस्थ हो सकता है। यज्ञाग्नि में डाली हुई ओषधियों की सुगन्ध उसके विकृत मस्तिष्क और उत्तेजित मन को ठीक कर सकती है। जो एक बार उन्माद रोग से ग्रस्त हो चुका होता है, उसके लिए आगे भी भय रहता है कि कहीं फिर उन्मत्त न हो जाये। पर यहां वेद ने यह उपाय बताया है कि ठीक होने के पश्चात् यदि वह इस रोग के लिए हितकर ओषधियों से नियमपूर्वक यज्ञ करता रहे तो भविष्य में फिर कभी इस रोग से ग्रस्त नहीं होगा।

गण्डमाला-चिकित्सा

अथर्ववेद (६।८३) में गण्डमाला की चिकित्सा का वर्णन है। वहां सूर्य और चन्द्रमा की किरणों के सेवन तथा यज्ञाग्नि की आहुति द्वारा यह रोग दूर हो सकता है, ऐसा कहा गया है।

अप॑चितः॒ प्र प॑तत सुप॒र्णो व॑स॒तेरि॑व ।
सूर्यः॑ कृ॒णोतु॑ भेष॒जं च॒न्द्रमा॒ वोऽपो॑च्छतु ॥
एन्ये॒का श्ये॒न्ये॑का कृ॒ष्णैका॒ रोहि॑णी॒ द्वे ।
सर्वा॑सा॒मग्र॑भं॒ नाम॒-अवी॑रघ्नी॒रपे॑तन ॥

---

1. अथर्व० ६।१११।२

असूतिका रामायण्यपचित् प्र पतिष्यति ।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥
वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा ।
मनसा यदिदं जुहोमि ॥[1]

(अपचितः) हे गण्डमाला की ग्रन्थियों ! तुम (प्र पतत) इस शरीर से उड़ जाओ, (सुपर्णः वसतेः इव) जैसे बाज पक्षी घोंसले से उड़ जाता है। (सूर्यः) भेषजं कृणोतु) सूर्य तुम्हारी चिकित्सा करे, (चन्द्रमाः वः अपोच्छतु) चन्द्रमा तुम्हें दूर भगा दे ॥ (एका) तुममें से एक (एनी) कुछ-कुछ लाल-श्वेत वर्ण वाली है, (एका श्येनी) एक श्वेत है, (एका कृष्णा) एक काली है, (द्वे रोहिणी) दो लाल हैं। (सर्वासां) सबका (नाम अग्रभम्) मैं नाम लेता हूँ। (अवीरघ्नीः) इस वीर पुरुष का संहार न करती हुई (अपेतन) इस शरीर से निकल जाओ ॥ (असूतिका) जिससे पस निकलना आरंभ नहीं हुआ है ऐसी (रामायणी) नाड़ी-व्रण वाली (अपचित्) गण्डमाला (प्र पतिष्यति) निश्चय ही गिर जायेगी। (ग्लौः) पीड़ा-कराहट (इतः प्रपतिष्यति) यहां से समाप्त हो जायेगी। (स गलुन्तः) वह पस बहाने वाला व्रण (नशिष्यति) नष्ट हो जायेगा ॥ हे रोगी ! तू (मनसा जुषाणः) मनोयोग के साथ (स्वाम् आहुतिं) अपनी आहुति का (वीहि) सेवन कर (यद् इदं) जिसे मैं (स्वाहा) स्वाहापूर्वक (जुहोमि) यज्ञाग्नि में डाल रहा हूं।

'हे गण्डमाला की ग्रन्थियो ! तुम इस रोगी के शरीर से निकल कर उड़ जाओ, जैसे बाज पक्षी अपने घोंसले से उड़ता है। सूर्य तुम्हारी चिकित्सा करे, चन्द्रमा तुम्हें दूर भगा दे। तुममें से एक कुछ-कुछ लाल-श्वेत वर्ण वाली है, एक सफेद है, एक काली है, दो लाल हैं। एक-एक करके तुम सबका मैं नाम लेता हूं। इस बीच पुरुष का संहार न करती हुई तुम इसके शरीर से दूर हो जाओ। हे रोगी ! तू विश्वास रख, जिससे अभी पूयस्राव होना आरम्भ नहीं हुआ है, ऐसी तेरी यह गण्डमालाग्रन्थि निश्चय ही गिर जाएगी। तेरी पीड़ा दूर हो जाएगी, व्रण नष्ट हो जाएगा। हे रोगी ! तू मनोयोग के साथ इस आहुति का सेवन कर जिसे मैं मनोयोग-पूर्वक यज्ञाग्नि में डाल रहा हूं।'

इस वर्णन से स्पष्ट है कि गण्डमाला का रोगी यदि गण्डमालाग्रन्थियों

१. अथर्व० ६।८३।१-४

पर विशेष ओषधियों का यज्ञधूप लेवे तो वे ग्रन्थियां नष्ट हो सकती हैं। साथ में सूर्यकिरणों और चन्द्रकिरणों का सेवन भी सहायक चिकित्सा के रूप में करना चाहिए।

अथर्ववेद (७।७४) में भी गण्डमाला की चिकित्सा का वर्णन करते हुए अन्तिम मन्त्र में यज्ञाग्नि को स्मरण किया है।

> **व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह।**
> **तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उपसदेम सर्वे ॥**[1]

(व्रतपते) हे व्रतों के पालक (जातवेदः) यज्ञाग्नि! (व्रतेन समक्तः त्वं) रोगनिवारण-व्रत से संयुक्त तू (सुमनाः) हमारे मनों को प्रसन्न करने वाला होता हुआ (इह) इस घर में (विश्वाहा दीदिहि) प्रतिदिन प्रज्वलित होता रह। (समिद्धं तं त्वा) समिधाओं से प्रज्वलित तेरे समीप (प्रजावन्तः) सन्तानों सहित हम (उप सदेम) बैठा करें [जिससे द्वितीय मन्त्र में वर्णित प्रथम, मध्यम और जघन्य तीनों प्रकार की गण्डमाला-ग्रन्थियाँ तथा अन्य रोग दूर हो जायें।

'हे व्रतपते जातवेद यज्ञाग्ने! रोगनिवारण आदि व्रतों से युक्त तू प्रतिदिन हमारे घरों में प्रज्वलित होता रह। हम समिधाओं से प्रज्वलित तेरे समीप सब परिजनों सहित बैठा करें।'

क्षयरोग या राजयक्ष्मा की चिकित्सा

अन्य रोगों की तो गणना ही क्या, यज्ञ द्वारा राजयक्ष्मा की भी चिकित्सा हो सकती है, यह वैदिक सन्दर्भों से प्रकट होता है। सर्वप्रथम हम अथर्ववेद (७।७६) का प्रसंग लेते हैं।

> **यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति।**
> **निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥**
> **पक्षी जायान्यः पतति स आविशति पूरुषम्।**
> **तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षितस्य च ॥**
> **विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।**
> **कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥**[2]

---

१. अथर्व० ७।७४।४ २. अथर्व० ७।७६।३-५

(यः) जो राजयक्ष्मा रोग (कीकसाः) पसलियों को (प्र शृणाति) तोड़ डालता है, (तलीद्यम् अवतिष्ठति) फेफड़ों में जाकर बैठ जाता है, (यः कश्च) और जो कोई (ककुदि श्रितः) पृष्ठवंश के उपरिभाग में स्थित हो जाता है, (तं जायान्यं सर्वं) उस अतिस्त्रीप्रसंग से उत्पन्न होने वाले सब राजयक्ष्मा रोग को, हे यज्ञिय हवि ! तू (निर्ह्राः) शरीर से बाहर निकाल दे ।। (पक्षी) पक्षी की भांति उड़ने वाला (जायान्यः) राजयक्ष्मा रोग (पतति) फैलता है, (सः) वह (पूरुषम्) एक से दूसरे पुरुष में (आविशति) प्रविष्ट हो जाता है । (तत्) वह यज्ञिय हवि (अक्षितस्य) जिसने जड़ नहीं जमायी है (सुक्षितस्य च) और जिसने खूब जड़ जमा ली है (उभयोः) उन दोनों प्रकार के राजयक्ष्मा की (भेषजम्) औषध है ।। (जायान्य) हे राजयक्ष्मा रोग (ते जानं) तेरे उत्पादक कारणों को हम (वै) निश्चय ही (विद्म) जानते हैं, (यतः) जिनसे (जायान्य) हे राजयक्ष्मा ! (जायसे) तू पैदा होता है । (यस्य गृहे) जिसके घर में, हम (हविः कृण्मः) हवन करते हैं, (तत्र) उस घर में (त्वं कथं ह हनः) तू किसी को कैसे मार सकता है ?

'जो क्षयरोग पसलियों को तोड़ डालता है, फेफड़ों में जाकर बैठ जाता है, पृष्ठवंश के उपरिभाग में स्थित हो जाता है, उस अतिस्त्रीप्रसंग से उत्पन्न होने वाले क्षयरोग को हे यज्ञिय हवि ! तू शरीर से बाहर निकाल दे । पक्षी की भांति उड़ने वाला अर्थात् छूत द्वारा फैलने वाला यह रोग एक से दूसरे पुरुषों में प्रविष्ट हो जाता है । चाहे उसने जड़ जमा ली हो, चाहे जड़ न जमायी हो, हविचिकित्सा दोनों की ही उत्तम चिकित्सा है । हे अतिस्त्रीप्रसंग से उत्पन्न होने वाले क्षय रोग ! हम तेरे उत्पादक कारणों को जानते हैं । पर जिस पुरुष के घर में हम हवन करते हैं, उसे तू कैसे मार सकता है ?'

इन मन्त्रों से क्षयरोग के निवारण में यज्ञहवन की महत्ता स्पष्ट है । इस विषय पर अथर्ववेद तथा ऋग्वेद के कुछ अन्य मन्त्र और भी अच्छा प्रकाश डालते हैं । यज्ञ-चिकित्सा करने वाला वैद्य कहता है—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ।।[1]

हे रोगी ! (हविषा) यज्ञिय हवि द्वारा (कम्) सुखपूर्वक (जीवनाय) जीने के लिए, (त्वा) मैं तुझे (अज्ञातयक्ष्मात्) अज्ञात रोग से (उत राजयक्ष्मात्)

१. अथर्व० ३।११।१

और राजयक्ष्मा तक से (मुञ्चामि) छुड़ा दूंगा। (यदि वा) अथवा यदि (एनं) इसे (एतद् ग्राहिः जग्राह) इस वातव्याधि ने पकड़ लिया है तो भी (इन्द्राग्नी) हे वायु और यज्ञाग्नि! तुम दोनों (एनं) इसे (तस्याः) उससे (प्रमुमुक्तम्) छुड़ा दो।

'हे रोगी! चाहे तेरे शरीर में कोई अज्ञात रोग है, चाहे राजयक्ष्मा है, हवि द्वारा मैं तुझे उस रोग से मुक्त कर दूंगा, जिससे कि तू चिरकाल तक जीवित रहे अथवा यदि इस रोगी को वातव्याधि ने पकड़ लिया है, तो भी हे वायु और अग्नि! तुम इसे उससे छुड़ा दो।'

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय॥[1]

(यदि क्षितायुः) यदि यह क्षीण आयु वाला हो चुका है, (यदि वा परेतः) यदि यह निराश हो चुका है, (यदि मृत्योः अन्तिकं नीतः एव) यदि मृत्यु के बिल्कुल समीप ले जाया जा चुका है, तो भी (तम्) उसे (निर्ऋतेः उपस्थात्) मृत्यु की गोद से, हवि-चिकित्सा द्वारा (आ हरामि) लौटा लाता हूं। (एनं) इसे, मैंने (शतशारदाय) सौ वर्ष जीने के लिए (अस्पार्षम्) बल प्रदान कर दिया है।

'यदि इसकी आयु क्षीण हो चुकी है, यदि यह निराश हो चुका है, यदि यह मृत्यु के बिल्कुल समीप पहुँच चुका है तो भी हवि-चिकित्सा द्वारा मैं इसे मृत्यु की गोद से लौटा लाता हूं। मैंने इसे सौ वर्ष जीने के लिए बल प्रदान कर दिया है।'

सहस्राक्षेण शतशारदेन शतायुषा हविषाऽऽहार्षमेनम्।
शतं यथेमं शरदो नयातीन्द्रो विश्वस्य दुरितस्य पारम्॥[2]

(सहस्राक्षेण) इन्द्रियों को सहस्रगुणित शक्ति देने वाली, (शतशारदेन) सौ शरद् ऋतुएं निर्विघ्न पार कराने वाली, (शतायुषा) सौ वर्ष की आयु देने वाली (हविषा) हवि के द्वारा (एनम्) इस राजयक्ष्मा से ग्रस्त पुरुष को (आहार्षम्) छुड़ा लाया हूं, (यथा) जिससे (इमं) इसे (इन्द्रः) हविर्गन्ध-युक्त वायु (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (विश्वस्य दुरितस्य) सब रोग-कष्ट से (पारं नयाति) पार पहुँचाता रहे।

---

१. अथर्व० ३।११।२   २. अथर्व० ३।११।३

'इन्द्रियों को सहस्रगुणित शक्ति देने वाली, सौ शरद् ऋतुएं निर्विघ्न पार करने वाली, सौ वर्ष की आयु देने वाली हवि के द्वारा मैं इस पुरुष को क्षयरोग के चंगुल से छुड़ा लाया हूं जिससे कि आगे भी (हविर्गन्ध से युक्त) वायु सौ वर्षों तक इसे सब रोग-कष्टों से पार करता रहे।'

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।
शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ॥[1]

हे पुरुष! तू हवि-चिकित्सा से (वर्धमानः) पुष्टि प्राप्त करता हुआ (शतं शरदः) सौ शरदों तक, (शतं हेमन्तान्) सौ हेमन्तों तक, (उ शतं वसन्तान्) और सौ वसन्तों तक (जीव) जीवित रह। (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि ने, (सविता) सूर्य ने, (बृहस्पतिः) बहुत शब्द करने वाले बादल ने (शतायुषा हविषा) सौ वर्ष की आयु देने वाली हवि की सहायता से (इमं) इसे (पुनः) फिर (शतं) सौ वर्ष की आयु (दुः) प्रदान कर दी है।

'हे हवि-चिकित्सा द्वारा क्षय रोग से आरोग्य लाभ किए हुए मनुष्य! तू दिनोदिन बढ़ता हुआ सौ शरदों तक, सौ हेमन्तों तक और सौ वसन्तों तक जीवित रह। वायु, अग्नि, सूर्य और पर्जन्य ने सौ वर्ष की आयु देने वाली हवि की सहायता से पुनः तुझे सौ वर्ष की आयु प्राप्त करा दी है।'

इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि क्षयरोग चाहे प्रारम्भिक अवस्था में हो, चाहे बहुत बढ़ गया हो, यहां तक कि उसके कारण रोगी बिल्कुल मरणासन्न हो गया हो, तो भी हवि चिकित्सा के द्वारा ठीक हो सकता है और रोगी स्वस्थ होकर सौ वर्ष तक जीने योग्य हो सकता है। परन्तु हवि-चिकित्सा के साथ-साथ शुद्ध-वायु-सेवन, सूर्यकिरणस्नान, शुद्ध जल का प्रयोग आदि हों तभी हवि-चिकित्सा लाभदायक होती है, यह भी प्रकट है।

गर्भदोष-निवारण

ऋग्वेद में अगले ही सूक्त (१०।१६२) में यज्ञाग्नि द्वारा गर्भदोषों के निवारण का उल्लेख किया गया है। यह प्रकरण अथर्ववेद (२०।९६) में भी है।

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये ॥[2]

---

१. अथर्व० ३।११।४ २. अथर्व० २०।९६।११

हे नारी ! (यः) जो (दुर्णामा) बुरे नाम वाला (अमीवा) रोग या रोगकृमि (ते गर्भं) तेरे गर्भ में (योनिं) या योनि में (आशये) प्रविष्ट हो गया है तु उसे (ब्रह्मणा) वेदमन्त्र से (संविदानः) युक्त (रक्षोहा अग्निः) कृमिविनाशक यज्ञाग्नि (इतः) यहां से (बाधताम्) दूर कर देवे ।

'हे नारी ! जो तेरे गर्भ या योनि के अन्दर बुरे नाम वाला रोग या रोगकृमि प्रविष्ट हो गया है उसे वेदमन्त्रों से युक्त कृमिविनाशक यज्ञाग्नि वहां से निकाल देवे ।'

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये ।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् ॥[1]

हे नारी ! (यः) जो (दुर्णामा अमीवा) बुरे नाम वाला रोगकृमि (ते गर्भं योनिम् आशये) तेरे गर्भ या योनि में प्रविष्ट हो गया है (तं क्रव्यादम्) उस मांसभक्षक को (ब्रह्मणा सह) वेदमन्त्र के साथ (अग्निः) यज्ञाग्नि (अनीनशत्) नष्ट कर देवे ।

'जो तेरे गर्भ या योनि में बुरे नाम वाला रोगकृमि प्रविष्ट हो गया है उस मांस-भक्षक कृमि को वेदमन्त्रों के साथ प्रयुक्त यज्ञाग्नि नष्ट कर देवे ।'

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम् ।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥[2]

हे नारी ! (यः) जो रोग या रोगकृमि (ते) तेरे (पतयन्तम्) गर्भाशय में जाते हुए वीर्य की उत्पादक शक्ति को (हन्ति) नष्ट कर देता है, (यः) जो (निषत्स्नुं) स्थित हुए गर्भ को अथवा (सरीसृपम्) गर्भाशय से बाहर आते हुए चंचल गर्भ को (हन्ति) विनष्ट करता है और (ते) तेरे (जातं) पैदा हुए शिशु की (जिघांसति) हत्या करना चाहता है, (तम्) उसे (इतः) यहां से यज्ञाग्नि द्वारा (नाशयामसि) हम विनष्ट कर देते हैं ।

'जो रोग या रोगकृमि तेरे गर्भाशय में जाते हुए वीर्य की उत्पादकशक्ति को नष्ट करता है तु जो अन्दर स्थित हुए गर्भ की हत्या करता है तु जो गर्भाशय से बाहर आते हुए चंचल गर्भ की हत्या करता है तु जो पैदा हुए शिशु की हत्या करता है तु उसे हम यज्ञाग्नि द्वारा विनष्ट कर देते हैं ।'

इन मन्त्रों से यह द्योतित होता है कि यज्ञ-हवन द्वारा अनेक प्रकार के

---

१. अथर्व० २०।९६।१२ २. अथर्व० २०।९६।१३

गर्भदोष भी दूर हो सकते हैं। जिन स्त्रियों में गर्भ ठहरने ही नहीं पाता या ठहरने के बाद दो-चार महीनों में गिर जाता है या पूरे-नौ-दस महीने की अवधि तक स्थिर रह कर भी प्रसव ठीक नहीं हो पाता या प्रसव हो भी जाये तो शिशु ऐसा रोगाक्रान्त पैदा होता है कि शीघ्र ही मर जाता है ऐसी स्त्रियाँ हविचिकित्सा से लाभ प्राप्त कर सकती हैं, ऐसा वेद का आशय है।

प्रसूतिकर्म आसानी से हो जाने के लिए भी किन्हीं विशेष ओषधियों की यज्ञिय सुगन्ध उपयोगी हो सकती है, यह अथर्ववेद के निम्न मन्त्र से प्रकट होता है—

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥[1]

(पूषन्) हे पोषक गृहपते ! (अस्मिन् सूतौ) इस प्रसव के समय (अर्यमा) रोग-शत्रुओं का नियमन करने वाला (वेधाः) यज्ञ का विधाता (होता) होम-निष्पादक मनुष्य (ते) तेरे लिए (वषट् कृणोतु) स्वाहापूर्वक अग्नि में हवि डाले। (नारी) नारी (सिस्रतां) बाहर की ओर किनछे, (उ) और (सूतवे) प्रसूति के लिए (पर्वाणि) अपने अंगों को (वि जिहतां) ढीला छोड़ दे तु (ऋतप्रजाता) जिससे सरलता से प्रसव हो जाये।

'हे पोषक गृहपते ! इस प्रसव के समय रोग-शत्रुओं का नियमन करने वाला यज्ञ का विधाता होमनिष्पादक मनुष्य तेरे लिए अग्नि में हवि डालता हुआ वषट्कार करे। नारी बाहर की ओर किनछे और अपने अंगों को ढीला छोड़ दे जिससे आसानी से प्रसूति हो जाये।'

अन्य रोगों का निवारण

अब तक हमने ऐसे मन्त्र प्रस्तुत किए हैं जिनमें यज्ञ द्वारा किन्हीं विशेष रोगों के विनाश होने का वर्णन है। अब कुछ ऐसे मंत्र उद्धृत करेंगे जिसमें किसी विशेष रोग का नाम न लेकर सामान्य रूप से यह कहा गया है कि यज्ञाग्नि से रोग दूर होते हैं।

यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः।
एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये ॥[2]

(यथा) जैसे (वृत्रः) बांध (विश्वधा यतीः) चारों ओर जाने वाले (इमाः आपः) इन जलों को (तस्तम्भ) रोक लेता है, (एव) वैसे ही (वैश्वानरेण

---
१. अथर्व० १।११।१ २. अथर्व० ६।८५।३

अग्निना) सर्वजन-हितकारी यज्ञाग्नि के द्वारा (ते यक्ष्मं) तेरे रोग को (वारये) मैं फैलने से रोक देता हूं।

'जिस प्रकार बांध चारों ओर जाने वाले जलों को रोक लेता है उसी प्रकार हे रोगी ! सर्वजन-हितकारी यज्ञाग्नि के द्वारा मैं तेरे रोगों को फैलने से रोक देता हूं।

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ।
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥[1]

हे रोगी ! (ते) तेरे अन्दर (प्राणं) प्राण को (आसुवामसि) हम प्रेरित कर देते हैं, (ते) तेरे (यक्ष्मं) रोग को (परा सुवामि) दूर कर देता हूं। (अयं) यह (वरेण्यः अग्निः) वरणीय श्रेष्ठ यज्ञाग्नि (नः) हम सबको (विश्वतः) सर्वत्र (आयुः दधत्) दीर्घायुष्य प्रदान करे।

'हे रोगी ! तेरे अन्दर हम प्राण को प्रेरित करते हैं, रोग को दूर कर देते हैं। यह वरणीय और श्रेष्ठ यज्ञाग्नि हम सब को सर्वत्र दीर्घायुष्य प्रदान करे।'

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह ।
विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परिपाहि नो गयम् ॥[2]

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! तू (अनाधृष्यः) अपराजेय (जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थों का प्रकाशक (अमर्त्यः) अमर, (विराट्) विशेष तेजस्वी और (क्षत्रभृत्) रोगत्राणकर्ता बल को धारण कराने वाला होता हुआ (इह) यहां हमारे घरों में (दीदिहि) प्रज्वलित हो। (विश्वाः अमीवाः) सब रोगों को (प्रमुञ्चन्) छुड़ाता हुआ तू (अद्य) आज (मानुषीभिः) मनुष्यों का कल्याण करने वाली (शिवाभिः) सुखदायक रक्षाओं से (नः गयम्) हमारे घर की (परि पाहि) रक्षा कर।

'हे यज्ञाग्ने ! तू अनाधृष्य अर्थात् रोगादि शत्रुओं से अपराजेय है, तू उत्पन्न पदार्थों का प्रकाशक है, तू अमर, तेजस्वी और बलधारक होता हुआ हमारे घरों में प्रज्वलित हो। सकल रोगों को छुड़ाता हुआ तू मनुष्य का कल्याण करने वाली रक्षाओं से हमारे घर की भली प्रकार रक्षा कर।'

---

१. अथर्व० ७।५३।६ २. अथर्व० ७।८४।१

कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे ।
देवममीवचातनम् ॥[1]

हे मनुष्य ! तू (अध्वरे) यज्ञ में (कविं) मेधावी-तुल्य, (सत्यधर्माणं) सत्य धर्मों वाले, (देवं) देदीप्यमान (अमीवचातनम्) रोगों को नष्ट करने वाले (अग्निं) यज्ञाग्नि का (उपस्तुहि) मन्त्रों द्वारा गुण-वर्णन कर ।

'हे मनुष्य ! जो यज्ञाग्नि मेधावी के तुल्य सत्य धर्मों वाला, देदीप्यमान और रोगों को नष्ट करने वाला है, उसका तू यज्ञ में गुणगान कर ।'

घृतस्य जूतिः समना सदेवा संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती ।
श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्तु अच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः ॥[2]

(समना) मनोयोग-सहित और (सदेवा) इन्द्रिय-देवों के व्यापार-सहित अग्नि में समर्पित (घृतस्य जूतिः) घृत की धारा (हविषा) ओषधियों की हवि के साथ (संवत्सरं) वर्ष भर (वर्धयन्ती) हमें बढ़ाती रहे । (नः) हमारे (श्रोत्रं) कान (चक्षुः) नेत्र और (प्राणः) प्राण (अच्छिन्नः अस्तु) रोगादि से अच्छिन्न रहें । (वयं) हम (आयुषः) आयु से और (वर्चसः) तेज से (अच्छिन्नाः) छिन्न न होवें ।

'मनोयोग के साथ और चक्षु, वाक् आदि इन्द्रिय देवों के व्यापार के साथ अग्नि में डाली हुई घृत की धारा अन्य ओषधियों की हवि के साथ वर्ष भर हमें बढ़ाती रहे । हमारे श्रोत्र, चक्षु, प्राण रोगादि से छिन्न न होवें, हम आयु और तेज से छिन्न न होवें ।'

स घा यस्ते ददाशति समिधा जातवेदसे ।
सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति ॥[3]

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (यः) जो मनुष्य (घ) निश्चय ही (जातवेदसे ते) तुझ प्रकाशक के लिए (समिधा) रोगनिवारक ओषधियों की समिधाओं से (ददाशति) अग्निहोत्र करता है, (सः) वह (सुवीर्यं धत्ते) श्रेष्ठबल को धारण करता है और (सः) वह (पुष्यति) परिपुष्ट होता है ।

'हे यज्ञाग्ने ! जो मनुष्य तुझ में विभिन्न औषधियों की समिधाओं का आधान करता है उसे बल प्राप्त होता है, वह परिपुष्ट होता है ।'

---

१. ऋग्. १।१२।७ २. अथर्व० १९।५८।१ ३. ऋग्० ३।१०।३

इन तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि विभिन्न औषधि-वनस्पतियों के समित्-पत्र-पुष्प-फल-मूल-निर्यास आदि की हवि से मनुष्य बल, पोषण, रोग-निरोधक शक्ति प्राप्त कर सकता है और प्राप्त तथा अप्राप्त विविध रोगों से बच कर दीर्घायुष्य पा सकता है।

यज्ञ द्वारा रोगनिवारण की प्रक्रिया

अब हम यह देखेंगे कि यज्ञ द्वारा रोगनिवारण कैसे होता है। जब हम यज्ञाग्नि में घृत, अन्न, औषधियों आदि की आहुति देते हैं तब उनकी रोगनिवारक गन्ध वायुमण्डल में फैल जाती है। उस वायु को श्वास द्वारा हम अपने फेफड़ों में भरते हैं। वहां उस वायु का रक्त से सीधा सम्पर्क होता है। वह वायु अपने में विद्यमान रोग-निवारक परमाणुओं को रक्त में पहुंचा देती है। उससे रक्त में जो रोगकृमि होते हैं वे मर जाते हैं। रक्त के अनेक दोष वायु में आ जाते हैं और जब हम वायु को बाहर निकालते हैं, तब उसके साथ वे दोष भी हमारे शरीर से बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार यज्ञ द्वारा संस्कृत वायु में बार-बार श्वास लेने से शनैः शनैः रोगी स्वस्थ हो जाता है। इसी क्रिया को वेद में निम्न शब्दों में दर्शाया है—

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद् रपः॥
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥[1]

(द्वौ इमौ वातौ वातः) श्वास-निश्वास रूपी दो वायु चलती हैं, (आ सिन्धोः) एक बाहर से फेंफड़ों के रक्त समुद्र तक (आ परावतः) और दूसरी अन्दर से बाहर की ओर। (अन्यः) इनमें से पहली, हे रोगी! (ते) तेरे लिए (दक्षं) बल को (आ वातु) प्राप्त कराये, (अन्यः) दूसरी (यद् रपः) रक्त में जो दोष है उसे (परा वातु) बाहर ले जाये॥

(वात) हे वायु! तू (भेषजं) औषध को (आ वाहि) अपने साथ ला, (वात) हे वायु! तू (यद् रपः) रक्त में जो मल है उसे (वि-वाहि) बाहर निकाल दे। (त्वं हि) तू निश्चय ही (विश्व भेषजः) सब रोगों की दवा है, तू (देवानां) स्वास्थ्यवर्द्धक दिव्य पदार्थों का (दूतः) दूत होकर (ईयसे) विचरता है।

---

१. ऋक्० १०।१३७।२, ३
१. अथर्व०.४।१३।२, ३

'ये श्वास-निश्वास रूपी दो वायुयें चलती हैं, एक बाहर के वायुमण्डल से फेफड़ों के रक्तसमुद्र तक और दूसरी फेफड़ों से बाहर के वायुमण्डल तक। इनमें से पहली हे रोगी! तुझे रोग-निवारक बल प्राप्त कराये, दूसरी रक्त में जो दोष हैं उसे अपने साथ बाहर ले जाये। हे वायु! तू अपने साथ औषध को ला। हे वायु! तू रक्त में जो मल है उसे बाहर निकाल। तू सब रोगों की दवा है, तू देवों का दूत होकर विचरता है।

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे।
प्रण आयूंषि तारिषत् ॥
उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।
स नो जीवातवे कृधि ॥
यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो देहि जीवसे ॥'

(वातः) वायु (भेषजं) औषध को (आ वातु) हमारे अन्दर ले जाये जो (नः हृदे) हमारे हृदय के लिए (शंभु) रोग-शामक, और (मयोभु) सुखकारक हो। (नः) हमारी (आयूंषि) आयु के वर्षों को (प्रतारिषत्) बढ़ाये॥ (वात) हे वायु! (उत नः पिता असि) तू हमारा पिता है, (उत भ्राता) और भाई है, (उत नः सखा) और हमारा मित्र है। (सः) वह तू (नः) हमें (जीवातवे कृधि) सुखी जीवन प्रदान कर॥ (वात) हे वायु! (यत्) जो (ते गृहे) तेरे घर में अर्थात् तेरे अन्दर (अमृतस्य निधिः) अमृत का भण्डार (हितः) निहित है, (ततः) उसमें से कुछ अंश (जीवसे) सुखी जीवन के लिए (नः देहि) हमें भी प्रदान कर।

'वायु हमारे शरीर के अन्दर औषध को ले जाए, जो कि हमारे हृदय के लिए शान्तिकर और सुखकर हो। हमारी आयु को बढ़ाये। हे वायु! तू हमारा पितृतुल्य, भ्रातृतुल्य और मित्रतुल्य है, वह तू हमें जीवन प्रदान कर। हे वायु! जो तेरे घर में अमृतमय औषध का भण्डार निहित है, उसमें से कुछ अंश हमें भी प्रदान कर, जिससे कि हम चिरंजीवी हों।'

आयुर्वेदिक ग्रन्थों का प्रमाण

यज्ञों द्वारा रोग-निवारण का वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी मिलता है। महर्षि चरक क्षयरोग की चिकित्सा के प्रकरण में कहते हैं—

१. ऋग्वेद १०।१८६।१-३

यया प्रयुक्तया चेष्टया राजयक्ष्मा पुराजितः ।
तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत् ॥[1]

अर्थात् प्राचीनकाल में जिन यज्ञों के प्रयोग से राजयक्ष्मा को जीता जाता था, आरोग्य चाहनेवाले मनुष्य को चाहिए कि उन वेदविहित यज्ञों का अनुष्ठान करे।

आयुर्वेद के विभिन्न ग्रंथों में ऐसे अनेक प्रयोग लिखे हैं, जिनमें अग्नि में ओषधियां डालकर उनकी धूनी लेने से रोगों को दूर करने का वर्णन है। उन्हें भी यज्ञ-चिकित्सा का ही रूप समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए हम कुछ प्रयोग नीचे देते हैं।

अगुरुघनसारसल्लककरुहनतनीरचन्दनैर्युक्तः ।
सर्जरसेन समेतो धूपो रुग्दाहकं हन्ति ॥[2]

अगर, कपूर, लोबान, नखी तगर, सुगन्धवाला, चन्दन और राल इनकी धूप देने से दाह शान्त होता है।

अश्वगन्धोऽथ निर्गुण्डी, बृहती पिप्पलीफलम् ।
धूपोऽयं स्पर्शमात्रेण ह्यर्शसां शमने ह्यलम् ॥[3]

असगन्ध, निर्गुण्डी, बड़ी कटेली, पीपल इन की धूप से बवासीर की पीड़ा शान्त होती है।

शिग्रुपल्लवनिर्यासः सुपिष्टस्ताम्रसम्पुटे ।
घृतेन धूपितो हन्ति शोथघर्षाश्रुवेदनः ॥[4]

सहंजने के पत्तों के रस को ताम्रपात्र में डाल कर तांबे की मूसली से घोटें और उसे घी में मिला लें। इनकी धूप देने से आंखों की पीड़ा, अश्रुस्राव, किरकिराहट व शोथ का नाश होता है।

काकुभकुसुमविडङ्गं लाङ्गलिभल्लातकं तथोशीरम् ।
श्रीवेष्टकसर्जरसं चन्दनमथ कुष्ठमष्टमं दद्यात् ॥
एष सुगन्धो धूपः सकृत् कृमीणां विनाशकः प्रोक्तः ।
शय्यासु मत्कुणानां शिरसि च गात्रेषु यूकानाम् ॥[5]

---

१. चरक, चिकित्सास्थान ८।१२२   २. बृहन्निघण्टु र०
३. बृ० नि० र०   ४. वंगसेन   ५. योगरत्नाकर

अर्जुन के फूल, वायविडंग, कलियारी की जड़, भिलावा, खस, धूप सरल, राल, चन्दन और कूठ समान भाग लेकर बारीक कूट लें। इसकी धूप से कृमि नष्ट हो जाते हैं। यदि खाट को इसकी धूप दी जाये तो खटमलों का और शिर तथा अंगों को दी जाये तो जूंओं का विनाश होता है।

काकमाचीफलैकेन घृतयुक्तेन बुद्धिमान्।
धूपयेत् पिल्लरोगार्तं पतन्ति कृमयोऽचिरात्॥[1]

मकोय के एक फल को घृत लगाकर उसे आग पर डालकर आंख में उसकी धूनी देने से तुरन्त आंख से कृमि निकलकर पिल्ल रोग नष्ट हो जाता है।

निम्बपत्रं वचा कुष्ठं पथ्या सिद्धार्थकं घृतम्।
विषमज्वरनाशाय गुग्गुलुश्चेति धूपनम्॥[2]

नीम के पत्ते, बच, कूठ, हर्र, सफेद सरसों और गूगल के चूर्ण को घी में मिलाकर उसकी धूप देने से विषमज्वर नष्ट होता है।

निम्बपत्रवचाहिङ्गुसर्पिर्लवणसर्षपैः।
धूपनं कृमिरक्षोघ्नं व्रणकण्डूरुजापहम्॥[3]

नीम के पत्ते, बच, हींग, सैंधानमक और सरसों के समभागमिश्रित चूर्ण को घी में मिलाकर उसकी धूप देने से व्रण के कृमि, खाज और पीव नष्ट होते हैं।

इस प्रकार के अनेक प्रयोग आयुर्वेद के ग्रंथों में हैं। प्राचीन आयुर्वेदविज्ञ आचार्यों ने ये परीक्षण किये थे। अनुसंधान और परीक्षण से हम अन्य भी अनेक प्रयोगों का आविष्कार कर सकते हैं। परन्तु अग्नि में औषधियों के मिश्रण को डालने मात्र से जितना फल सम्भव है, उससे शतगुणित फल यज्ञ द्वारा उस विधान को करने से प्राप्त हो सकता है। रोगी श्रद्धा के साथ मन में पवित्र विचारों को लेकर यज्ञ में बैठता है। वह मन में इस विश्वास को धारण किए होता है कि इस यज्ञिय हवि से मेरा रोग अवश्य दूर होगा। चिकित्सक की भावना और उत्साह रोगी के हृदय में और भी आशा का संचार कर देते हैं। मन्त्रपाठपूर्वक यज्ञ प्रारम्भ होता है। एक-एक मन्त्र के साथ स्वाहाकारपूर्वक अग्नि में हवि पड़ती है। मन्त्र का एक-एक शब्द रोगी

---

१. गदनिग्रह २. बृ० नि० र० ३. बृ० नि० र०

के हृदय पर असर करता है। थोड़े-थोड़े अन्तर के पश्चात् प्रत्येक स्वाहा-कार के साथ अग्नि से हविर्धूम उठता है और श्वास-वायु के साथ रोगी के अन्तस्तल को स्पर्श करता हुआ रोग को दूर भगाता है। यज्ञिय वातावरण की शांति, पवित्रता रोगकल्मष को दूर करने के लिए सोने में सुगन्ध का काम करती है। यह सब लाभ यज्ञविहीन शुष्क क्रिया द्वारा भला कहां सम्भव है ?

उपसंहार

अस्तु, शास्त्रीय प्रमाणों से हमने यह प्रतिपादित करने का यत्न किया है कि यज्ञ द्वारा समस्त रोगों का निवारण सम्भव है। किस रोग में किन पदार्थों की हवि हितकर होगी इसका वैद्य-विद्वन्मंडली को अधिकाधिक अनुसंधान करना चाहिए। अथर्ववेद में गूगल, कुष्ठ, पिप्पली, पृश्निपर्णी, सहदेवी, लाक्षा, अजशृङ्गी आदि कतिपय ओषधियों का माहात्म्य-वर्णन मिलता है। हवन-सामग्री में गूगल का प्रयोग प्रायः किया जाता है। उसके विषय में अथर्ववेद में कहा है—

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥[1]

अर्थात् जिस मनुष्य को गूगल औषध का उत्तम गन्ध प्राप्त होता है उसे रोग पीड़ित नहीं करते और आक्रोश उसे नहीं घेरता।

यज्ञ द्वारा रोग-निवारण शास्त्रकारों की कोरी कल्पना नहीं है। प्राचीन काल में रोग फैलने के समय में बड़े-बड़े यज्ञ किए जाते थे और जनता उनसे आरोग्य लाभ करती थी। इन्हें भैषज्ययज्ञ कहते थे। गोपथ ब्राह्मण में लिखा है—

भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि।
तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।
ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते ॥[2]

---

१. अथर्व० १९।३८।१
(न तं) न उसे (यक्ष्माः) रोग (अरुन्धते) वश में करते हैं, (न एनं) न उसे (शपथः) आक्रोश (अश्नुते) घेरता है, (यं) जिसे (गुल्गुलोः भेषजस्य) गूगल औषध का (सुरभिःगन्धः) सुरभित गन्ध (अश्नुते) प्राप्त होता है।

२. गो० ब्रा०। उ० १।१९

अर्थात् जो चातुर्मास्य यज्ञ हैं वे भैषज्य-यज्ञ कहलाते हैं क्योंकि रोगों को दूर करने के लिए होते हैं। ये ऋतुसन्धियों में किये जाते हैं क्योंकि ऋतु-सन्धियों में ही रोग फैलते हैं।

वर्तमान काल में भी वर्षा, शरद् और वसंत के आरम्भ में बड़े व्यापक रूप में रोग और महामारियां फैलती हैं जिनके निवारण के लिए जनता और सरकार का करोड़ों रुपया व्यय हो जाता है, तो भी वे बीमारियां पूर्णतः नहीं रुक पातीं। यज्ञ एक ऐसा उपाय है जिससे स्वल्प व्यय में महान् लाभ प्राप्त किया जा सकता है। जब सर्दी-जुखाम, मलेरिया, चेचक आदि रोग फैलने का समय हो तब यदि घर-घर में और विशाल रूप में सार्वजनिक स्थानों में भी उन रोगों के निवारण के लिए उपयोगी ओषधियों से प्रतिदिन यज्ञ किए जाया करें, तो सारा वायुमंडल उन रोगों के प्रतिकूल हो जाये और कहीं वे रोग न फैलें, या फैलें भी तो बहुत हल्के रूप में।

भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न रोग उद्भूत होते हैं। किसी ऋतु में वात प्रकुपित होता है, किसी में पित्त, किसी में कफ। उन-उन प्रकोपों के शमन के अनुकूल हवन-सामग्री का प्रयोग करना उचित है। वेद में भी ऋत्वनु-कूल हवनसामग्री का विधान है—

"देवानां पार्थ ऋतुथा हवींषि।"[1]

□□

1. अथर्व० ५।१२।१०

द्वितीय दृश्य

अग्निहोत्र के प्रेरक तथा लाभ-प्रतिपादक वेदमन्त्र

१. अग्निहोत्र का आदेश

यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निं यजध्वं हविषा तना गिरा ।
समिधानं सुप्रयसं स्वर्णरं द्युक्षं होतारं वृजनेषु धूर्षदम् ॥[1]

ऋषिः गृत्समदः शौनकः । देवता अग्निः । छन्दः विराड् जगती ।

हे मनुष्यो ! तुम (यज्ञेन) यज्ञ द्वारा (जातवेदसम् अग्निं) उत्पन्न होकर प्रकाश देने वाले यज्ञाग्नि को (वर्धत) बढ़ाओ। उस (समिधानं) प्रदीपक, (सुप्रयसं) संस्कृत हविष्यान्न को ग्रहण करने वाले, (स्वर्णरं) मोक्ष की ओर ले जाने वाले, (द्युक्षं) दीप्त, (होतारं) होमसंपादक और (वृजनेषु धूर्षदं) बल के कार्यों में अग्रणी अग्नि को (हविषा) हवि से और (तना गिरा) विस्तृत वेदवाणी से (यजध्वं) देवयज्ञ द्वारा पूजित करो।

आ जुहोता स्वध्वरं शीरं पावकशोचिषम् ।
आशुं दूतमजिरं प्रत्नमीड्यं श्रुष्टी देव सपर्यत ॥[2]

---

१. ऋग् २.२.१ २. ऋग् ३.९.८

ऋषि: गाथिनो विश्वामित्र: । देवता अग्नि: । छन्द: विराड् बृहती ।

हे मनुष्यो ! तुम (स्वध्वरं) भलीभांति यज्ञ को संपन्न करने वाले, (शीरं) सर्वत्र व्याप्त (पावकशोचिषम्) पावक ज्योति वाले अग्नि में (आ जुहोत) हवियों की आहुति दो । उस (आशुं) शीघ्रतायुक्त, (दूतम्) दूत का कार्य करने वाले, (अजिरं) गतिमान् (ईड्यं) गुण वर्णन करने योग्य (देवं) प्रकाशमान एवं फलदाता यज्ञाग्नि की (सपर्यत) हवि से पूजा करो ।

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥
सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन ।
अग्नये जातवेदसे ॥[1]

ऋषि: १ आङ्गिरस:, २ सुश्रुत: । देवता अग्नि: । छन्द: गायत्री ।

हे मनुष्यो ! (समिधा) समिधा के द्वारा (अग्निं) यज्ञाग्नि की (दुवस्यत) परिचर्या करो । (अतिथिम्) अतिथि के तुल्य इस यज्ञाग्नि को (घृतै:) घृतों से (बोधयत) जागरित करो, (अस्मिन्) इसमें (हव्या) हवियों की (आजुहोतन)[2] आहुति दो ।

हे मनुष्यो ! (सुसमिद्धाय) सम्यक् प्रकार से समिद्ध (शोचिषे) दीप्तिमान् (जातवेदसे अग्नये) उत्पन्न वस्तुओं को अथवा यजमान के हृदयों को प्रकाशित करने वाले यज्ञाग्नि के लिए (तीव्रं घृतं) पिघले हुए घृत की (जुहोतन) आहुति दिया करो ।

२. नारियां एवं सारा परिवार अग्निहोत्र करे

यदीं मातुरुप स्वसा घृतं भरन्त्यस्थित ।
तासामध्वर्युरागतौ यवो वृष्टीव मोदते ॥[3]

ऋषि: सोमाहुति: भार्गव: । देवता अग्नि: । छन्द: अनुष्टुप् ।

(यदि) यदि (मातु: उप) यजमान की माता के समीप (स्वसा) उसकी बहिन (घृतं भरन्ती) होमार्थ घृत को ग्रहण किये हुए (अस्थित) स्थित

---

१. यजु. ३.१,२
२. आजुहोतन=आ जुहुत । 'तप्तनप्तनथनाश्च' इति तस्य तनबादेश: ।
३. ऋग् २.५.६

होती है तो (तासाम् आगतौ) उनके यज्ञ में आने पर (अध्वर्युः) यज्ञ का संचालक पुरोहित अथवा यागेच्छु यजमान (मोदते) वैसे ही प्रसन्न होता है (इव) जैसे (यवः वृष्टौ) जौ की खेती वर्षा से। अर्थात् जिस यज्ञ में माता, बहिनें आदि सारा परिवार भाग लेता है, वह यज्ञ प्रसन्नतादायक और प्रशंसनीय होता है।

तदस्यानीकमुत चारु नामापीच्यं वर्धते नप्तुरपाम्।
यमिन्धते युवतयः समित्था हिरण्यवर्णं घृतमन्नमस्य॥[1]

ऋषिः गृत्समदः शौनकः। देवता अपान्नपात्। छन्दः विराट् त्रिष्टुप्।

(अस्य अपां नप्तुः) इस जलों के पौत्र [क्योंकि जलों से वनस्पतियां और वनस्पतिकाष्ठों से अग्नि उत्पन्न होता है] यज्ञाग्नि का (अनीकं) ज्वाला रूपी सैन्य (उत) और (अपीच्यं चारु नाम) सर्वत्र व्याप्त सुन्दर यश (वर्धते) बढ़ रहा है, (यम्) जिस यज्ञाग्नि को (इत्था) सत्यभाव से (युवतयः) नारियां (समिन्धते) समिद्ध करती हैं। (अस्य) इसका (हिरण्यवर्णं घृतम्) सोने जैसे रंग वाला गो-घृत (अन्नम्) अन्न है।

उप यमेति युवतिः सुदक्षं दोषा वस्तोर्हविष्मती घृताची।
उप स्वैनमरमतिर्वसूयुः॥[2]

ऋषिः वसिष्ठः। देवता अग्निः। छन्दः एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री।

(यं सुदक्षं) जिस शुभबलयुक्त यज्ञाग्नि को (हविष्मती) हवियों से युक्त तथा (घृताची) घृत-युक्त (युवतिः) युवति स्त्री (दोषावस्तोः) सायं प्रातः (उप एति) अग्निहोत्र के लिए प्राप्त करती है, (एनम्) उस यज्ञाग्नि को (स्वा) अपनी (अरमतिः) उद्बोधक ज्वाला[3] (वसूयुः[4]) यज्ञकर्ताओं के लिए ऐश्वर्य को चाहती हुई (उप) प्राप्त होती रहती है।

---

१. ऋग् २.३५.११
२. ऋग्० ७.१.६
३. अरम् अलं पर्याप्तं मतिः बोधो यया सा 'अरमतिः याज्ञिकानाम् उद्बोधनकर्त्री ज्वाला।
४. वसूनि ऐश्वर्याणि कामयते इति वसूयुः। क्यचि 'क्याच्छन्दसि' इत्युः, 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घः।

आ रोह चर्मोपसीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा ।
इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः ॥[1]

ऋषिः सूर्या सावित्री । देवता आत्मा (वधूकर्तव्योपदेशः) । छन्दः पुरोबृहती त्रिष्टुप् ।

हे वधू ! तू (चर्म आरोह) मृगचर्म के आसन पर बैठ, (अग्निम् उपसीद) अग्निहोत्र कर । (एष देवः) यह प्रकाशमान और प्रकाशक यज्ञाग्नि (सर्वा[2] रक्षांसि) सब रोग-रूपी तथा कामक्रोधादि-रूपी राक्षसों को (हन्ति) मार देता है । (इह) इस गृहस्थाश्रम में (अस्मै पत्ये) इस पति के लिए (प्रजां जनय) सन्तान उत्पन्न कर । (ते एषः पुत्रः) तेरा यह पुत्र (सुज्यैष्ठ्यः) उत्तम ज्येष्ठ गुणों वाला (भवत्) हो ।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥[3]

ऋषिः अथर्वा । देवता सांमनस्यम् । छन्दः प्रस्तारपङ्क्तिः ।

हे परिवार के सदस्यो ! (समानी प्रपा) एक ही तुम्हारी पानशाला हो (सह वः अन्नभागः) एक साथ तुम्हारा भोजन हो । (समाने योक्त्रे) समान स्नेह सूत्र में (सह) एक साथ (वः युनज्मि) तुम्हें मैं बांधता हूं । तुम सब (सम्यञ्चः) चारों ओर बैठकर (अग्निं सपर्यत) अग्निहोत्र किया करो (इव) जिस प्रकार (अराः) पहिए के अरे (नाभिम् अभितः) नाभि के चारों ओर स्थित होते हैं । अर्थात् जिस प्रकार चक्र के अरों को जोड़ने वाली मध्यस्थ नाभि होती है उसी प्रकार परिवार के सदस्यों को जोड़ने वाली मध्यस्थ अग्निहोत्र की अग्नि होती है ।

३. अग्निहोत्र नैत्यिक कर्त्तव्य

तं त्वा नरो दम आ नित्यमिद्धमग्ने सचन्त क्षितिषु ध्रुवासु ।
अधि द्युम्नं निदधुर्भूर्यस्मिन् भवा विश्वायुर्धरुणो रयीणाम् ॥[4]

---

१. अथर्व० १४.२.२४
२. सर्वा सर्वाणि । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः ।
३. अथर्व० ३.३०.६ ४. ऋग्० १.७३.५

ऋषिः पराशरः । देवता अग्निः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (नरः) यज्ञकर्ता लोग (दमे) घर में (नित्यं) नित्य (इद्धं) प्रदीप्त होने वाले (तं त्वा) उस तुझको (ध्रुवासु क्षितिषु) अपनी निरुपद्रव निवास-भूमियों में (आ सचन्त) सदा सेवित करते हैं और (अस्मिन्) इस तुझमें (भूरि द्युम्नम्) बहुत सा हविष्यान्न (निदधुः) आहुत करते हैं। तू उनके लिए (विश्वायुः) पूर्ण आयु को प्राप्त कराने वाला और (रयीणां धरुणः) ऐश्वर्यों का दाता (भव) हो।

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु ।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥[1]

ऋषिः गाथिनो विश्वामित्रः । देवता अग्निः । छन्दः भुरिक् पङ्क्तिः ।

(जातवेदाः अग्निः) उत्पन्न प्राणियों का प्रकाशक यज्ञाग्नि (अरण्यो निहितः) उत्तरारणि और अधरारणि दोनों के अन्दर निहित रहता है, (गर्भिणीषु गर्भः इव) गर्भिणियों के अन्दर गर्भ के समान (सुधितः) सुस्थित रहता है। वही संघर्षण द्वारा यज्ञवेदि में प्रकट किये जाने के अनन्तर (जागृवद्भिः) जागरूक (हविष्मद्भिः) हविष्मान् (मनुष्येभिः) मनुष्यों के द्वारा (दिवे दिवे) प्रतिदिन (ईड्यः) स्तुति योग्य होता है।

यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनो भूदुत प्रियः सुतसोमो मियेधः ।
यज्ञेन यज्ञमव यज्ञियः सन्यज्ञस्ते वज्रमहिहत्य आवत् ॥[2]

ऋषिः गाथिनो विश्वामित्रः । देवता इन्द्रः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

(इन्द्र) हे आत्मन् अथवा हे यजमान ! (यज्ञः हि) यज्ञ निश्चय ही (ते वर्धनः भूत्) तेरा बढ़ाने वाला है, (उत) और (प्रियः) प्रिय (सुतसोमः) सोम अभिषुत करने योग्य तथा (मियेधः)[3] दुःखों को प्रक्षिप्त करने वाला है। (यज्ञियः सन्) यज्ञार्ह होता हुआ तू (यज्ञेन) यजन-कर्म द्वारा (यज्ञम् अव) यज्ञ की रक्षा कर। (यज्ञः) यज्ञ (अहिहत्ये) रोगादि तथा कामादि शत्रुओं के विनाश में (ते वज्रम्) तेरे वज्र-तुल्य शरीर की (आवत्) रक्षा करता है।

---

१. ऋग् ३.२९.२ २. ऋग् ३.३२.१२

३. 'येन मिनोति दुःखं प्रक्षिपति सः । अत्र बाहुलकादौणादिक एधप्रत्ययः ।' इति दयानन्दः ।

न्यग्निं जातवेदसं दधाता देवमृत्विजम् ।
प्र यज्ञ एत्वानुषगद्या देवव्यचस्तमः ॥[१]

ऋषिः विश्वसामा आत्रेयः । देवता अग्निः । छन्दः अनुष्टुप् ।

हे मनुष्यो ! तुम (देवं) प्रकाशमान और प्रकाशक (ऋत्विजम्) प्रत्येक ऋतु में यजन करने योग्य (जातवेदसम् अग्निम्) यज्ञाग्नि को (निदधात) यज्ञवेदि में निहित करो । इस प्रकार (देवव्यचस्तमः यज्ञः) विद्वानों में अतिशय व्यापक यज्ञ (आनुषक्) आगे निरन्तर और (अद्य) आज भी (प्र एतु) चलता रहे ।

त्वे अग्न आहवनानि भूरीशानास आ जुहुयाम नित्या ।
उभा कृण्वन्तो वहतू मियेधे ॥[२]

ऋषिः वसिष्ठः । देवता अग्निः । छन्दः विराट् ।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (ईशानासः) धनादि के अधीश्वर होते हुए हम (मियेधे) दुःखविनाशक यज्ञ में (उभा) दोनों प्रकार के पाठ्य तथा गेय (वहतू) मन्त्रों को (कृण्वन्तः) उच्चारण करते हुए (नित्या)[३] नित्य प्रदान करने योग्य (आहवनानि) हवियों को (त्वे जुहुयाम) तुझसे आहुत करते रहें ।

इन्धानास्त्वा शतं हिमा द्युमन्तं समिधीमहि ।
वयस्वन्तो वयस्कृतं सहस्वन्तः सहस्कृतम् ।
अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम् ।
चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय ॥[४]

ऋषिः अवत्सारः । देवता अग्निः । छन्दः निचृद् ब्राह्मी पङ्क्तिः ।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (इन्धानाः) अपने आपको देदीप्यमान करते हुए (द्युमन्तं त्वा) तुझ दीप्तिमान् को (शतं हिमाः) सौ वर्षों तक (समिधीमहि) हम प्रज्वलित करते रहें । (वयस्वन्तः) अन्नवान् या दीर्घायु हम (वयस्कृतं) अन्न और दीर्घायुष्य को प्रदान करने वाले तुझे (सहस्वन्तः) बली हम (सहस्कृतम्) बलोत्पादक तुझे तथा (अदब्धासः) अपराजित हम (अदाभ्यम्) अपराजेय और (सपत्नदम्भनम्) रोग एवं कामादि शत्रुओं के

---

१. ऋग् ५.२२.२   २. ऋग् ७.१.१७

३. नित्या = नित्यानि । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः ।

४. यजु. ३।१८

पराजेता तुझे प्रज्वलित करते हैं। जिससे सदैव हम अन्नवान्, दीर्घायु, बली और अपराजित बने रहें। (चित्रावसो) हे चित्रविचित्र ज्वाला रूपी धन वाले! (स्वस्ति) तेरे द्वारा हमारा कल्याण हो, (ते पारम् अशीय) मैं तेरे पार को अर्थात् अग्निहोत्र की पूर्णता को प्राप्त करूं।

अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा निवर्त्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन। सन्या मेधया रय्या पोषेण ॥[1]

ऋषिः वत्सप्रीः। देवता अग्निः। छन्दः भुरिग् अनुष्टुप्।

(अभ्यावर्तिन् अग्ने) हे प्रतिदिन लौट कर आने वाले यज्ञाग्नि! तू (आयुषा) दीर्घायुष्य के साथ, (वर्चसा) तेज के साथ, (प्रजया) सन्तान के साथ, (धनेन) धन के साथ, (सन्या) अपनी देन के साथ, (मेधया) मेधा के साथ (रय्या) ऐश्वर्य के साथ और (पोषेण) पुष्टि के साथ (मा अभि) मेरे प्रति (निवर्तस्व) प्रतिदिन लौट कर आ अर्थात् प्रतिदिन हम तुझ में अग्निहोत्र करें और तू उपर्युक्त वस्तुओं को हमें प्रदान कर।

**पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्न इषायुषा।
पुनर्नः पाह्यंहसः ॥**[2]

ऋषिः वत्सप्रीः। देवता अग्निः। छन्दः निचृद् गायत्री।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि! तू (ऊर्जा)[3] दुग्धादि रस के साथ (पुनः निवर्तस्व) पुनः हमारे बीच में लौट कर आ, (पुनः) पुनः (इषा)[4] अन्न, विज्ञान, कर्मण्यता, अभीष्ट सुख आदि के साथ और (आयुषा) दीर्घायुष्य के साथ लौट कर आ। (पुनः) पुनः पुनः (नः) हमारी (अंहसः) पाप से (पाहि) रक्षा कर।

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥[5]

---

१. यजु. १२.७　　　२. यजु. १२.९

३. ऊर्जं दधाथामिति रसं दधाथामित्येवैतदाह। श. ब्रा. ३.९.४.१८

४. इषु इच्छायाम्, इष गतौ। इष्=अन्न (निघ. २.७)। इषम् अन्नं विज्ञानं वा, इषम् इष्टं सुखम् इति क्रमशः ऋग् ७.४८.४, ऋग् १.१८४.६ भाष्ये दयानन्दः।

५. अथर्व. १९.५५.३

प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम ॥[1]

ऋषिः भृगुः । देवता अग्निः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

(गृहपतिः अग्निः) गृहरक्षक यज्ञाग्नि (सायं सायं) प्रत्येक सायं-काल और (प्रातः प्रातः) प्रत्येक प्रातःकाल (नः) हमें (सौमनसस्य) आरोग्य और आनन्द का तथा (वसोः वसोः) प्रत्येक प्रकार के ऐश्वर्य का (दाता) देने वाला है । हे यज्ञाग्नि ! सदा (वसुदानः एधि) ऐश्वर्यप्रदाता बना रह । (वयं) हम सब (त्वा इन्धानाः) तुझे प्रज्वलित करते हुए (तन्वं पुषेम) शरीर की पुष्टि प्राप्त करते रहें ।

(गृहपतिः अग्निः) गृहरक्षक यज्ञाग्नि (प्रातः प्रातः) प्रत्येक प्रातःकाल, और (सायं सायं) प्रत्येक सायंकाल (नः) हमें (सौमनसस्य) आरोग्य और आनन्द का तथा (वसोः वसोः) प्रत्येक प्रकार के ऐश्वर्य का (दाता) देने वाला है । हे यज्ञाग्नि ! तू सदा (वसुदानः ऐधि) ऐश्वर्यप्रदाता बना रहा । हम (शतं हिमाः) सौ वर्षों तक (त्वा इन्धानाः) तुझे प्रज्वलित करते हुए (ऋधेम) समृद्ध होते रहें ।[2]

त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवत् ।
अहरहर्बलिमित् ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ॥[3]

ऋषिः भृगुः । देवता अग्निः । छन्दः आस्तारपंक्तिः ।

(पुरुहूत) बहुतों से आहूत (इन्द्रा)[4] रोगादि विदारक (अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (त्वं) तू हमें (विश्वम् आयुः) सम्पूर्ण आयु (व्यशनवत्) प्राप्त करा । (तिष्ठते अश्वाय घासम् इव) जैसे खड़े हुए घोड़े के लिए घास लाते हैं वैसे ही (तिष्ठते ते) यज्ञकुण्ड में स्थित तेरे लिए (अहः अहः) प्रतिदिन हम (बलिं हरन्तः) घृतादि हव्य का उपहार लाते रहें ।

४. व्रत और श्रद्धा पूर्वक करें

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं ।
तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥[5]

---

१. अथर्व. १९.५५.४ २. इन मन्त्रों में पुनरुक्ति बल के लिए है ।
३. अथर्व० १९.५५.६
४. इन्द्रा = इन्द्र । छान्दसं दीर्घत्वम् । इन्द्र यहां अग्नि के लिए ही आया है, यतः मन्त्र का देवता अग्नि ही है । ५. यजु० १.५

ऋषिः प्रजापतिः, परमेष्ठी प्राजापत्यः, देवा वा प्राजापत्याः। देवता अग्निः। छन्दः आर्ची त्रिष्टुप्।

(व्रतपते अग्ने) हे व्रतपति यज्ञाग्नि! मैं (व्रतं चरिष्यामि) यज्ञ का व्रत ग्रहण करूंगा। (तत्) उस व्रत को (शकेयम्) पालन करने में समर्थ होऊं। (मे तत्) मेरा वह व्रत (राध्यताम्) सफल हो। (इदम् अहम्) यह मैं (अनृतात्) असत्य व्यवहार को छोड़ कर (सत्यम्) सत्यमय यज्ञ को (उपैमि) प्राप्त होता हूं।

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम्॥[1]

ऋषिः अश्वतराश्विः। देवता अग्निः। छन्दः निचृदनुष्टुप्।

(व्रतपते अग्ने) हे व्रतपति यज्ञाग्नि! मैं (त्वयि) तुझ में (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) आधान करता हूं। (व्रतं च श्रद्धां च) व्रत और श्रद्धा को (उपैमि) प्राप्त होता हूं, तथा (दीक्षितः अहम्) दीक्षित होकर मैं (त्वा इन्धे) तुझे प्रज्वलित करता हूं।

स्तीर्णे बर्हिषि समिधाने अग्नौ सूक्तेन महा नमसा विवासे।
अस्मिन्नो अद्य विदथे यजत्रा विश्वे देवा हविषि मादयध्वम्॥[2]

ऋषिः ऋजिश्वा। देवता विश्वे देवाः। छन्दः त्रिष्टुप्।

(बर्हिषि स्तीर्णे) कुशानिर्मित आसन के यज्ञवेदि पर बिछ जाने पर, (अग्नौ समिधाने) यज्ञाग्नि के प्रदीप्त हो चुकने पर (सूक्तेन) वैदिक सूक्त से (महा नमसा) बड़ी श्रद्धा के साथ (आ विवासे) मैं अग्नि-पूजा अर्थात् अग्निहोत्र करता हूं। (यजत्राः विश्वे देवाः) हे यजनीय समस्त विद्वानो! (अद्य) आज (अस्मिन् नः विदथे) इस हमारे यज्ञ में (हविषि) हवि द्वारा (मादयध्वम्) आनन्द या तृप्ति लाभ करो।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥
श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥[3]

---

१. यजु० २०.२४ २. ऋग्० ६.५२.१७ ३. ऋग्० १०.१५१.१, ४

ऋषि: श्रद्धा कामायनी । देवता श्रद्धा । छन्द: अनुष्टुप् ।

(श्रद्धया) श्रद्धा के साथ (अग्निः) यज्ञाग्नि (समिध्यते) प्रज्वलित की जाती है, (श्रद्धया) श्रद्धा के साथ (हविः हूयते) हवि की आहुति दी जाती है। (श्रद्धां) श्रद्धा को (भगस्य मूर्धनि) ऐश्वर्यों के शिखर पर (वचसा) वचन द्वारा (आ वेदयामसि) हम बतलाते हैं।

(यजमानाः) यज्ञ करने वाले (वायुगोपाः) प्राणायामाभ्यासी (देवाः) विद्वान् लोग (श्रद्धाम् उपासते) श्रद्धा को ग्रहण करते हैं, (हृदय्यया आकूत्या) हृदय-स्थित दृढ़ संकल्प के साथ वे (श्रद्धाम्) श्रद्धा को ग्रहण करते हैं। (श्रद्धया) श्रद्धा से मनुष्य (वसु) ऐश्वर्य को (विन्दते[1]) प्राप्त कर लेता है।

५. मन्त्रोच्चारण भी करें

उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये ।
आरे अस्मे च शृण्वते ॥[2]

ऋषि: गोतमः । देवता अग्निः । छन्द: निचृद् गायत्री ।

हम (अध्वरम् उपप्रयन्तः) यज्ञ में पहुँच कर (आरे) दूर भी (अस्मे च) और हमारे समीप भी (शृण्वते) प्रार्थना को सुन लेने वाले, पूर्ण कर देने वाले (अग्नये) यज्ञाग्नि के प्रति (मन्त्रं) वेदमन्त्र (वोचेम) उच्चारण करें।

६. होम के साथ ध्यान भी करें

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमीधे विवस्वभिः ॥[3]

(मर्त्यः) मनुष्य (मनसा) मनोयोग से या श्रद्धा से (अग्निम् इन्धानः) यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करता हुआ (धियं सचेत) ध्यान भी करे। मैं (विवस्वभिः) सूर्यकिरणों के आवागमन के साथ (अग्निम्) यज्ञाग्नि को (ईधे) प्रज्वलित करता हूं।

७. गोघृत की आहुति

आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभि रक्षतादिमान्त्स्वाहा ॥[4]

---

१. विद्लृ लाभे, तुदादिः । विन्दति, विन्दते ।
२. यजु० ३.११ ३. ऋग्० ८.१०२.२२ ४. यजु० ३५.१७

ऋषि: वैखानस: । देवता अग्नि: । छन्द: स्वराट् त्रिष्टुप् ।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (हविषा वृधानः) हवि से बढ़ता हुआ (घृतप्रतीक:[1]) प्रदीप्त ज्वाला रूपी मुख वाला और (घृतयोनि:[2]) घृत रूप कारण से प्रकट होता हुआ तू (आयुष्मान् एधि) दीर्घजीवी हो अर्थात् चिरकाल तक तुझे प्रदीप्त कर याज्ञिक लोग यज्ञ करते रहें। (मधु चारु गव्यं घृतं पीत्वा) मधुर, श्रेष्ठ गो-घृत का पान करके (पिता इव पुत्रम्) जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है वैसे (इमान्) इन यजमानों की (अभि रक्षतात्) रक्षा कर, (स्वाहा) तुझमें हम आहुति देते हैं।

त्वे धेनुः सुदुघा जातवेदोऽसश्चतेव समना सबर्धुक् ।
त्वं नृभिर्दक्षिणावद्भिरग्ने सुमित्रेभिरिध्यसे देवयद्भिः ॥[3]

ऋषि: सुमित्रो वाध्र्यश्व: । देवता अग्नि: । छन्द: त्रिष्टुप् ।

(जातवेद:) हे उत्पन्न प्राणियों को प्रकाश देने वाले यज्ञाग्नि ! (त्वे) तेरे लिए हमने (सुदुघा धेनु:) प्रचुर दूध देने वाली गाय पाली हुई है, जो कि (असश्चता इव) प्रतिकूलता न प्रकट करने वाली पृथिवी के समान (समना:) हमारे साथ अनुकूल मन वाली होती हुई (सबर्धुक्) यज्ञार्थ दुग्धामृत को प्रदान करती है। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (त्वं) तू (दक्षिणावद्भि:) दक्षिणा देने वाले (देवयद्भि:) दिव्य गुणों की कामना करने वाले (सुमित्रेभि:) हम सुमित्रों से (इध्यसे) प्रज्वलित किया जाता है।

घृतमग्नेर्वध्र्यश्वस्य वर्धनं घृतमन्नं घृतम्वस्य मेदनम् ।
घृतेनाहुत उर्विया वि पप्रथे सूर्य इव रोचते सर्पिरासुतिः ॥[4]

ऋषि: सुमित्रो वाध्र्यश्व: । देवता अग्नि: । छन्द: जगती ।

(वध्र्यश्वस्य[5] अग्ने:) रोगादि की वधकर्त्री व्यापक ज्वालाओं से युक्त यज्ञाग्नि का (घृतम्) गो-घृत (वर्धनम्) बढ़ाने वाला है, (घृतम् अन्नम्)

१. घृतं प्रदीप्तं प्रतीकं ज्वालारूपमुखं यस्य स: । घृ क्षरणदीप्त्यो: ।
२. घृतम् आज्यं योनि: कारणं यस्य स: ।
३. ऋक् १०.६९.८ ४. ऋक्० १०.६९.२
५. वध्रय: रोगादीनां वधकर्त्र्य: अश्वा: व्याप्ता: ज्वाला: यस्य स वध्र्यश्व: तस्य ।

घृत ही अन्न है, (घृतम् उ) घृत ही (अस्य) इसका (मेदनम्) स्नेहनकर्ता है। (घृतेन आहुतः) घृत से आहुति दिया हुआ यह (उर्विया[1]) विशालता के साथ (वि पप्रथे) विस्तीर्ण होता है। (सर्पिरासुतिः[2]) घृत से सिक्त हुआ यह अग्नि (सूर्यः इव) सूर्य के समान (रोचते) चमकता है।

घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे।
घृतं ते देवीर्नप्त्य आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने॥[3]

ऋषिः शौनकः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (ते दिव्ये सधस्थे) तेरे सुसज्जित यज्ञगृह में (घृतं) घृत तैयार रखा है। (घृतेन) उस घृत से (अद्य) आज (मनुः) विचार-शील मैं (त्वां) तुझे (समिन्धते) प्रज्वलित करता हूं। (नप्त्यः[4] देवीः) यज्ञ के व्रत से च्युत न होने वाली नारियाँ (ते) तुझे (घृतम् आवहन्तु) घृत प्रदान करें। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (गावः) गौएं (तुभ्यं) तेरे लिए (घृतं दुह्रताम्) हमें घृत देती रहें।

८. हवि कैसी हो ?

पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः।
जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा इषो महीः॥[5]

ऋषिः गाथी कौशिकः। देवता पुरीष्या अग्नयः। छन्दः विराड् अनुष्टुप्।

(प्रवणेभिः सजोषसः) चतुर यजमानों द्वारा प्रीतिपूर्वक सेवन की गई (पुरीष्यासः[6] अग्नयः) वृष्टिजल प्रदान के लिए हितकर अग्नियां (यज्ञं)

---

१. उर्विया उरु, 'इयाडियाजनीकाराणामुपसंख्यानम्' इति वार्तिकेन सोः इयादेशः।
२. सर्पिः घृतम् आसूयते सिच्यते यस्मिन् सः।
३. अथर्व० ७.८२.६
४. न पतन्ति यज्ञव्रतात् च्यवन्ते इति नप्त्यः नियमेन यज्ञसेविन्यो देवीः देव्यः नार्यः।
५. ऋग्० ३.२२.४
६. पुरीषम् इत्युदकनाम (निघं० १.१२)। पुरीषाय वृष्ट्युदकाय हिताः पुरीष्याः। त एव पुरीष्यासः, 'आज्जसेरसुक्' इति जसोऽसुगागमः।

यज्ञ को तथा (अद्रुहः) द्रोह न करने वाले (अनमीवाः) आरोग्यकर (महीः) पुष्टिप्रद (इषः) हविष्यान्नों को (जुषन्ताम्) स्वीकार करें।[1]

६. समिधा कैसी हो ?

यदत्त्युपजिह्विका यद् वम्रो अतिसर्पति ।
सर्वं तदस्तु ते घृतम् ॥[2]

ऋषिः प्रयोगो भार्गवः अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः, अग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

(यत्) जिस लकड़ी को (उपजिह्विका) दीमक (अत्ति) खाती है, (यत् वम्रः अतिसर्पति) जिसमें दीमक जाति का अन्य कीट लग जाता है, (सर्वं तत्) वह सब पीपल, ढाक, आम आदि की कोमल लकड़ी (ते घृतम् अस्तु) तेरा प्रदीपक हो ।

उप त्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्यत ।
जुषस्व समिधो मम ॥[3]

ऋषि प्रजापतिः । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

(हर्यत[4] अग्नि) हे गतिमान् कान्तिमान् यज्ञाग्नि ! (हविष्मतीः) हवियों से युक्त (घृताचीः) घृत में डूबी हुई समिधाएं (त्वा उपयन्तु) तेरे समीप

---

१. इस सम्बन्ध में महर्षि-दयानन्द-कृत संस्कारविधि, सामान्य प्रकरण की निम्न पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

"होत्र द्रव्य के चार प्रकार—(प्रथम सुगन्धित) कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि । (द्वितीय पुष्टिकारक) घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूं, उड़द आदि । (तीसरे मिष्ट) शक्कर, सहत, छुवारे, दाख आदि । (चौथे रोगनाशक) सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियाँ ।"

इसके अतिरिक्त दही भात, खीचड़ी, खीर, लड्डू, मोहनभोग आदि हव्य बनाने के लिए भी लिखा है ।

२. ऋग्० ८.१०२.२१ ३. यजु० ३।४

४. हर्य गतिकान्त्योः

पहुँचे। (मम समिधः) मेरी उन समिधाओं का तू (जुषस्व) सेवन कर।[1]

१०. अग्निहोत्री के उद्गार

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम्॥[2]

ऋषिः कतो वैश्वामित्रः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (इच्छमानः) यज्ञफल की इच्छा रखता हुआ मैं (तरसे बलाय) वेग और बल की प्राप्ति के लिए (इध्मेन घृतेन) समिधा और घृत के साथ (ब्रह्मणा वन्दमानः) वेदमन्त्रों से स्तुति करता हुआ (यावद् ईशे) जितना समर्थ होता हूं उतना (हव्यं जुहोमि) हवि को आहुत करता हूं और (शतसेयाय) सैंकड़ों लाभों को प्राप्त करने के लिए (इमां देवीं धियम्) इस दिव्य बुद्धि को यज्ञ के प्रति प्रेरित करता हूं।

इळायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि।
जातवेदो नि धीमह्यग्ने हव्याय वोळ्हवे॥[3]

ऋषिः गाथिनो विश्वामित्रः। देवता अग्निः। छन्दः अनुष्टुप्।

(जातवेदः अग्ने) हे प्रकाशक यज्ञाग्नि! (वयं) हम (त्वा) तुझे (इडायाः पदे) यज्ञवेदि के स्थल यज्ञगृह में (पृथिव्याः नाभा[4] अधि) यज्ञवेदि के मध्य में (हव्याय वोढवे[5]) हवि वहन करने के लिए (नि धीमहि) स्थापित करते हैं।

---

१. यज्ञ-समिधाओं श विषय में उक्त संस्कारविधि, सामान्य प्रकरण निम्न पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—"यज्ञसमिधा—पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम, बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी-बड़ी कटवा लेवें। परन्तु ये समिधा कीड़ा लगी, मलिन-देशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों।"

२. ऋग्० ३.१८.३

३. ऋग्० ३.२९.४

४. नाभा=नाभौ। सुपां सुलुगिति सप्तम्या डादेशः।

५. वोढवे वोढुम्। तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः।

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि ।
अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥[1]

ऋषि: प्रजापति: । देवता अग्नि: । छन्द: निचृद् गायत्री ।

(कवे अग्ने) हे गतिशील यज्ञाग्नि ! (अध्वरे) यज्ञ में (वीतिहोत्रं) हव्य पदार्थों का भक्षण करने वाले, (द्युमन्तं) ज्योतिष्मान् (बृहन्तम्) विशाल (त्वा) तुझे (समिधीमहि) हम प्रज्वलित करते हैं ।

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनो-
त्वरिष्टं यज्ञं समिमं दधातु ।
विश्वे देवास इह मादयन्तामो३प्रतिष्ठ ॥[2]

ऋषि: प्रजापति: । देवता बृहस्पति: । छन्द: विराड् जगती ।

(जूति: मन:) क्रियाशील मन (आज्यस्य जुषताम्) यज्ञ में घृत का ग्रहण करे, (बृहस्पति:) ज्ञानी पुरोहित (इमं यज्ञं) इस यज्ञ को (तनोतु) फैलाये, वह (इमं यज्ञं) इस यज्ञ को (अरिष्टं) अविघ्नित रूप से (सं दधातु) सम्पन्न करे । (विश्वे देवास:[3]) सब विद्वज्जन (इह) इस यज्ञ में (मादयन्ताम्) तृप्तिलाभ करें । (ओ३म्) हे परमेश्वर ! (प्रतिष्ठ) आप भी इस यज्ञ में प्रकृष्ट रूप से स्थित हों ।

एषा ते अग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व ।
वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि ।
अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा ससृवाꣳसं वाजजितꣳसम्मार्ज्मि ॥[4]

ऋषि: प्रजापति: । देवता अग्नि: । छन्द: पूर्वस्य अनुष्टुप्, अग्ने वाजेत्युत्त-रस्य निचृद् गायत्री ।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (एषा ते समित्) यह तेरी समिधा है, (तया) उससे (वर्धस्व) बढ़, (आप्यायस्व[5] च) और समृद्ध हो । (वर्धिषीमहि च

१. यजु० २.४
२. यजु० २.१३
३. देवास: = देवा: । आज्जसेरसुक् ।
४. यजु० २.१४
५. ओप्यायी वृद्धौ ।

वयम्) हम भी बढ़ें, (आप्यासिषीमहि च) और समृद्ध हों। (वाजजित् अग्ने) हे बलविजेता यज्ञाग्नि ! (वाजं) बली, (ससृवांसं) क्रियाशील तथा (वाजजितं) बलविजेता (त्वा) तुझे (संमार्ज्मि[1]) मैं सुगन्धित द्रव्यों की आहुति से संस्कृत करता हूँ।

अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना
भूयासं सुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः ।
अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु शतं
हिमाः सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते ॥[2]

ऋषिः वामदेवः। देवता अग्निः। छन्दः पूर्वार्द्धे निचृत् पङ्क्तिः, उत्तरार्द्धे गायत्री।

(गृहपते अग्ने) हे गृहरक्षक यज्ञाग्नि ! (त्वया गृहपतिना) तुझ गृहपति के साथ (अहं) मैं (सुगृहपतिः) उत्तम गृहपति (भूयासम्) बनूं। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (मया गृहपतिना) मुझ गृहपति के साथ (त्वं) तू (सुगृहपतिः) उत्तम गृहपति (भूयाः) बन। (नौ) हम दोनों के (गार्हपत्यानि) गृहपतित्व (अस्थूरि) अनिन्दित (सन्तु) हों। मैं यज्ञकर्ता (शतं हिमाः) सौ वर्षों तक (सूर्यस्य आवृतम् अनु) सूर्य के आवागमन के साथ (आवर्ते) जीवन-यात्रा करता रहूँ।

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥[3]

ऋषिः भारद्वाजः। देवता अग्निः। छन्दः गायत्री।

(अङ्गिरः[4]) हे अङ्गाररूप, गतिमान् अथवा प्राणप्रद यज्ञाग्नि ! (तं त्वा) उस तुझ को (समिद्भिः) समिधाओं से (घृतेन) और घृत से

---

१. मृजूष् शुद्धौ। २. यजु० २.२७

३. यजु० ३.३

४. 'अङ्गारेष्वङ्गिराः' इति निरुक्तम् (३.१७)। 'अङ्गतिर्गत्यर्थः। अङ्गिर्गतिरस्यास्तीति अङ्गिराः। रस् प्रत्ययो मत्वर्थीयः' इति महीधरः। प्राणा वा अङ्गिरा' श० ब्रा० ६.१.२.२८।

(वर्धयामसि[1]) हम वढ़ाते हैं। (यविष्ठ्य[2]) हे समृद्धतम यज्ञाग्नि ! तू (बृहत्) बहुत अधिक (शोच[3]) चमक।

पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरापत।
वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जं शतक्रतो ॥[4]

ऋषिः और्णवाभः। देवता यज्ञः। छन्दः अनुष्टुप्।

(दर्वि) हे यज्ञ-चमस ! तू (पूर्णा) घृत से पूर्ण होकर (परापत) यज्ञाग्नि में गिर, (सुपूर्णा) अच्छी तरह परिपूर्ण होकर (पुनः आपत) पुनः आकर गिर। इस प्रकार (शतक्रतो) हे सैंकड़ों यज्ञों को करने वाले यज्ञाग्नि ! (वस्ना इव) मानो मूल्य देकर हम दोनों (इषम्) हविर्भूत अन्न का तथा (ऊर्जम्) रस, वल, प्राण आदि का (वि क्रीणावहै) क्रय-विक्रय करते रहें। अर्थात् हे यज्ञाग्नि ! मैं तुझे घृत, अन्नादि की आहुति दूं और तू मुझे वदले में रस, वल, प्राण आदि को प्रदान कर।

११. अग्निहोत्र से वर्षा

आ ते सुपर्णा अमिनन्त एवैः कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम्।
शिवाभिर्न स्मयमानाभिरागात् पतन्ति मिहः स्तनयन्त्यभ्रा ॥[5]

ऋषिः गोतमो राहूगणः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।

हे यज्ञाग्नि ! (ते सुपर्णाः) तेरी ज्वालाएं (एवैः) गतिशील वायुओं के द्वारा (आ अमिनन्त) बादल को प्रताडित करती हैं, तब (कृष्णः वृषभः) वह काला, वर्षा करने वाला बादल (नोनाव) शब्द करने लगता है। (यदि इदम्) जब ऐसा होता है तब (शिवाभिः स्मयमानाभिः न) सुखदायक मुस्कराती हुई युवतियों के सदृश बिजलियों के साथ वह बादल (आगात्) आता है। (मिहः पतन्ति) मेह बरसता है और (अभ्रा स्तनयन्ति) जल भरे मेघ गरजते हैं।

---

१. वर्धयामसि वर्धयामः। 'इदन्तो मसि' इति मस इदन्तत्वम्।
२. अतिशयेन युवा यविष्ठः। यविष्ठ एव यविष्ठ्यः। स्वार्थे तद्धितयकारः।
३. शोचा शोच। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' इति दीर्घः।
४. यजु० ३.४९ ५. ऋग्० १.७९.२

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥[१]

ऋषिः दीर्घतमा औचथ्यः। देवता सूर्यः पर्जन्योऽग्नयो वा। छन्दः विराड् अनुष्टुप्।

(एतद् उदकम्) यह जल (समानं) समान रूप से (अहभिः) दिनों के अनुसार (उद् एति च) ऊपर जाता है, (अव एति च) और नीचे आता है। (पर्जन्याः) बादल (भूमिं जिन्वन्ति) भूमि को तृप्त करते हैं, (अग्नयः) यज्ञाग्नियाँ (दिवं जिन्वन्ति) आकाश को तृप्त करती हैं अर्थात् भूमिष्ठ जल को वृष्टि करने के लिए ऊपर ले जाती हैं।[२]

स नो वृष्टिं दिवस्परि स नो वाजमनर्वाणम्।
स नः सहस्रिणीरिषः ॥[३]

ऋषिः सोमाहुतिर्भार्गवः। देवता अग्निः। छन्दः गायत्री।

(सः) वह यज्ञाग्नि (नः) हमारे लिए (दिवः परि) आकाश से (वृष्टिं) वर्षा को लाता है। (स) वह यज्ञाग्नि (नः) हमारे लिए (अनर्वाणम्) अक्षय (वाजम्) अन्न को प्रदान करता है। (सः) वह यज्ञाग्नि (नः) हमारे लिए (सहस्रिणीः इषः) सहस्रों रसों को देता है।

घृतं पवस्व धारया यज्ञेषु देववीतमः।
अस्मभ्यं वृष्टिमा पव ॥[४]

ऋषिः कविः भार्गवः। देवता पवमानः सोमः। छन्दः गायत्री।

हे सौम्य यजमान! (देववीतमः) दिव्यगुणों की अतिशय कामना करने वाला तू (यज्ञेषु) यज्ञों में (धारया) धार के साथ (घृतं) घृत को (पवस्व) प्रवाहित कर। इस प्रकार (अस्मभ्यं) हमारे लिए (वृष्टिम्) वर्षा को (आ पव) स्रवित कर।

अग्ने बाधस्व वि मृधो वि दुर्गहापामीवामप रक्षांसि सेध।
अस्मात् समुद्राद् बृहतो दिवो नोऽपां भूमानमुप नः सृजेह ॥[५]

---

१. ऋग्० १.१६४.५१
२. तुलनीय : अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ मनु० ३.७६
३. ऋग्० २.६.५ ४. ऋग्० ९.४९.३ ५. ऋग्० १०.९८.१२

ऋषि: देवापिरार्ष्टिषेणः । देवता देवाः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! तू हमारे अन्दर से (मृधः) हिंसा-वृत्तियों को (वि बाधस्व) दूर कर, (दुर्गहा वि) बड़ी कठिनाई से पकड़ में आने वाले दोषों को दूर कर, (अमीवाम् अप सेध) रोगों को दूर कर, (रक्षांसि अप) काम, क्रोध आदि राक्षसों को नष्ट कर। (दिवः) आकाश के (अस्मात् बृहतः समुद्रात्) इस महान् पर्जन्य रूप समुद्र से (नः) हमारे लिए (इह) यहाँ (अपां भूमानम्) वृष्टिजलों की प्रचुरता को (उपसृज) उत्पन्न कर।

१२. अग्निहोत्र से पुत्र प्राप्ति

स घा यस्ते ददाशति समिधा जातवेदसे ।
सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति ॥[1]

ऋषि: विश्वामित्रः । देवता अग्निः । छन्दः उष्णिक् ।

(यः) जो मनुष्य (जातवेदसे ते) तुझ यज्ञाग्नि के लिए (घ)[2] निश्चय ही (समिधा)[3] समिधाओं और प्रदीपक अन्य हवियों को (ददाशति)[4] देता है, (सः) वह (अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (सुवीर्यं[5] धत्ते) शोभन सामर्थ्य से युक्त पुत्र को प्राप्त करता है, और (सः) वह (पुष्यति) समृद्ध होता है।

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध ।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥[6]

ऋषि: उत्कीलः कात्यः । देवता अग्निः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! तू (पुरुदंसं)[7] बहुत कर्म करने वाले पुत्र को (इडां) भूमि को, (गोः सनिं) गाय की दुग्ध, घृत आदि देन को (शश्वत्तमं) निरन्तर

---

१. ऋग्. ३।१०।३
२. घा=घ । ऋषि 'तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' इति दीर्घः ।
३. समिधा=समिधः । सम् इन्धी दीप्तौ, क्विप् । सुपाँसुलुगिति शसो डादेशः ।
४. ददाशति । दाशृ दाने । 'बहुलं छन्दसि' इति शपः श्लुः । द्वित्वम् ।
५. 'सुवीर्यं शोभवसामर्थ्योपेतं पुत्रम्'—सायण ।
६. ऋग्. ३।१५।७
७. पुरूणि बहूनि दंसांसि कर्माणि यस्य तम् पुत्रम् । दंसः इति कर्मनाम (निघं. २-१) ।

(हवमानाय) हवन करने वाले मेरे लिए (साध) प्रदान कर। (नः सूनुः) हमारा पुत्र (तनयः) वंश का विस्तार करने वाला और (विजावा)[1] विशेष गुणों से प्रसिद्ध (स्यात्) होवे, (सा) ऐसी (ते सुमतिः) तेरी सुमति (अस्मे भूतु) हमारे प्रति हो।

गोमाँ अग्नेऽविमाँ अश्वी यज्ञो नृवत्सखा सदमिदप्रमृष्यः।
इळावाँ एषो असुर प्रजावान् दीर्घो रयिः पृथुबुध्नः सभावान् ॥[2]

ऋषिः वामदेवो गौतमः। देवता अग्नि। छन्दः त्रिष्टुप्।

(असुर अग्ने)हे प्राणप्रद यज्ञाग्नि! तेरे द्वारा (गोमान्) गौओं से युक्त (अविमान्) भेड़ों से युक्त, (अश्वी) घोड़ों से युक्त, (यज्ञः) यजनशील, (नृवत्सखा) नेतृत्व करने वालों का सखा, (सदम् इत् अप्रधृष्यः) सदा ही अपराजेय, (इळावान्[3]) भूमि अन्न और वाणी स्वामी, (एषः) गतिशील, कर्मण्य (प्रजावान्) प्रशस्त प्रजा वाला (दीर्घः) दीर्घ दृष्टि वाला, (पृथुबुध्नः) विशाल मस्तिष्क वाला और (सभावान्) सभ्य (रयिः[4]) पुत्र प्राप्त होता है।

यस्ते अग्ने नमसा यज्ञमीट्ट ऋतं स पात्यरुषस्य वृष्णः।
तस्य क्षयः पृथुरा साधुरेतु प्रसर्स्राणस्य नहुषस्य शेषः ॥[5]

ऋषिः सुतम्भर आत्रेयः। देवता अग्निः। छन्दः निचृत् त्रिष्टुप्।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (यः) जो (नमसा) श्रद्धा के साथ अथवा अन्न की हवि से (ते) तेरे लिए (यज्ञम् ईट्टे) यज्ञ का यजन करता है, (सः) वह (अरुषस्य) आरोचमान (वृष्णः) वर्षक तुझ अग्नि के (ऋतं) सत्य प्रभाव की (पाति) रक्षा करता है। (तस्य) उस (प्रसर्स्राणस्य) प्रगतिशील (नहुषस्य)[6]

---

१. विशेषेण जायते प्रख्यातो भवति इति विजावा। वि-जनी प्रादुर्भावे, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति वनिप्। 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' इत्यात्वम्।

२. ऋग्. ४।२।५

३. इडा=पृथिवी, अन्न, वाणी (निघं. १-१, १-११, २-७)।

४. 'रयि': पुत्रः' इति ऋग्. ४-२-७ भाष्ये सायणः।

५. ऋग्. ५।१२।६

६. नहुषः=मनुष्य (निघं. २.३)

मनुष्य को (पृथुः क्षयः) विशाल घर और (साधुः शेषः)[1] साधु पुत्र (आ एतु) प्राप्त हो।

अग्निस्तुविश्रवस्तमं तुविब्रह्माणमुत्तमम्।
अतूर्तं श्रावयत्पतिं पुत्रं ददाति दाशुषे ॥[2]

ऋषिः वसूयवः आत्रेयाः। देवता अग्निः। छन्दः अनुष्टुप्।

(अग्निः) यज्ञाग्नि (दाशुषे) हवि देने वाले यजमान को (तुविश्रवस्तमं) अतिशय यशस्वी, (तुविब्रह्माणं) बहुत ज्ञानी, (उत्तमं) उत्तम, (अतूर्तं) शत्रुओं से अहिंसित, (श्रावयत्पतिम्) गृहपति की कीर्ति फैलाने वाले (पुत्र) पुत्र को (ददाति) प्रदान करता है।

अग्निर्ददाति सत्पतिं सासाह यो युधा नृभिः।
अग्निरत्यं रघुष्यदं जेतारमपराजितम् ॥[3]

ऋषिः वसूयवः आत्रेयाः। देवता अग्निः। छन्दः अनुष्टुप्।

(अग्निः) यज्ञाग्नि (सत्पतिम्)[4] सज्जनों के पालक पुत्र को (ददाति) प्रदान करता है, (यः) जो पुत्र (युधा) युद्ध करके (नृभिः) वीर परिजनों की सहायता से (ससाह) शत्रुओं को परास्त कर देता है। (अग्निः) यज्ञाग्नि (रघुष्यदं) फुर्तीले वेगवाले (जेतारं) विजेता (अपराजितं) अपराजित (अत्यं) घोड़े को (ददाति) देता है।

उदेनमुत्तरां नयाग्ने घृतेनाहुत।
रायस्पोषेण सं सृज प्रजया च बहुं कृधि ॥[5]

ऋषिः अप्रतिरथः। देवता अग्निः। छन्दः विराड् अनुष्टुप्।

(घृतेन आहुत) हे घृत से आहुत (अग्ने) यज्ञाग्नि, (एनं) इस यजमान को (उत्तरां) अत्यन्त उत्कृष्ट (उत् नय) उन्नति प्राप्त करा, (रायस्पोषेण)

---

१. शेषः=सन्तान (निघं. २.२)। शेषः इत्यपत्यनाम शिष्यते प्रयतः (निरु. ३.२)।

२. ऋग् ५.२५.५   ३. ऋग् ५.२५.६

४. यः पुत्रः युधा युद्धेन नृभिः परिजनैः ससाह शत्रून् अभिभवति सत्पतिं सतां पालयितारं तथाविधं पुत्रम् अग्निर्ददाति'—सायणः।

५. यजु. १७.५०

ऐश्वर्य की पुष्टि से (संसृज) संयुक्त कर (प्रजया च) और सन्तान से (वहुं कृधि) समृद्ध कर।

अग्निरप्सामृतीषहं वीरं ददाति सत्पतिम्।
यस्य त्रसन्ति शवसः संचक्षि शत्रवो भिया ॥[1]

ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। देवता अग्निः। छन्दः अनुष्टुप्।

(अग्निः) यज्ञाग्नि (अप्साम्) कर्मसेवी, (ऋतीषहं) शत्रुओं का पराभव करने वाले, (सत्पति) सज्जनों के रक्षक (वीरं) वीर पुत्र को (ददाति) प्रदान करता है, (यस्य शवसः संचक्षि) जिसके बल के दीख जाने पर (शत्रवः) शत्रुगण (भिया) भय से (त्रसन्ति) संत्रस्त हो जाते है।[2]

प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तिरते वाजभर्मभिः।
यस्य त्वं सख्यमावरः ॥[3]

ऋषिः सोभरिः काण्वः। देवता अग्निः। छन्दः ककुबुष्णिक्।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (यस्य) जिस यजमान की (सख्यम्) मित्रता को तू (आवरः) वर लेता है (सः) वह (तव) तेरी (सुवीराभिः)[4] श्रेष्ठ वीर पुत्रों को प्रदान करने वाली (वाजभर्मभिः) धन-धान्यों और बलों का भरण-पोषण करने वाली (ऊतिभिः) रक्षाओं से (प्र तिरते[5])वृद्धि प्राप्त करता है।

प्र यं राये निनीषसि मर्तो यस्ते वसो दाशत्।
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम् ॥[6]

ऋषिः काण्वः सोभरिः। देवता अग्निः। छन्दः बृहती।

---

१. ऋग् ६.१४.४
२. 'अयम् अग्निः वीरं पुत्रं ददाति स्तोतृभ्यः प्रयच्छति। कीदृशं पुत्रम्? अप्साम् अपाम् आप्तव्यानां कर्मणां सनितारं संभक्त्यारम्, ऋतीषहम् ऋतनाम् अरातीनां सोढारम् अभिभवितारं, सत्पतिं सतां कर्मणां पालयितारम्।' इति सायणः।
३. ऋग् ८.१९.३०
४. 'सुवीराभिः। शोभना वीराः पुत्रादयो यासु तास्तथोक्ताः।' इति सायणः।
५. प्र पूर्वस्तितिर्वर्द्धनार्थः। द्र. निरु. १२.३७
६. ऋग् ८.१०३.४

(वसो अग्ने) हे निवासक यज्ञाग्नि ! (यः मर्तः) जो मनुष्य (ते) तुझे (दाशत्)[1] हवि प्रदान करता है, तथा (यम्) जिसे तू (राये) ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए (निनीषसि) आगे ले जाना चाहता है, (सः) वह मनुष्य (उक्थशंसिनम्) वेदमन्त्रों का शंसन करने वाले और (त्मना)[2] स्वयं (सहस्रपोषिणम्) सहस्रों का पोषण करने वाले, दानी (वीरं) वीर पुत्र को (धत्ते) प्राप्त करता है।

अहाव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः।
वाजसनिं रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम् ॥[3]

ऋषिः विदर्भिः। देवता अग्निः। छन्दः भुरिक् पङ्क्तिः।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (ते आस्ये) तेरे ज्वालारूपी मुख में (हविः अहावि) हवि का होम किया गया है, (स्रुचि इव घृतम्) जैसे स्रुवा अर्थात् यज्ञिय चमस में घृत तथा (चम्वि इव सोमः) चमू अर्थात् कटोरे में सोमरस डाला जाता है। तू (अस्मे) हमें (वाजसनिं) अन्न-प्रदाता (सुवीरं) अतिशय वीर (प्रशस्तं) प्रशस्त (यशसं) कीर्तिमान् (बृहन्तं) विशाल मन वाले (रयिम्) पुत्र को (धेहि) प्रदान कर।

१३. अग्निहोत्र के अन्य लाभ

अन्न, धन, बल, ज्ञान, विजय, उत्कर्ष

त्वोतो वाज्यह्रयोऽभि पूर्वस्मादपरः। प्र दाश्वाँ अग्ने अस्थात् ॥[4]

ऋषिः गोतमो राहूगणः। देवता अग्निः। छन्दः गायत्री।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (दाश्वान्) तुझमें हवि अर्पित करने वाला यजमान (प्र अस्थात्) उत्तम स्थिति को पा लेता है। वह (त्वोतः) तुझसे रक्षित होकर (वाजी)[5] अन्न, धन, बल, वेग, ज्ञान, विजय आदि से युक्त तथा (अह्रयः)[6]

---

१. दाशृ दाने। लेट्।

२. त्मना = आत्मना। 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' इत्याकारलोपः।

३. यजु. २०.७९ ४. ऋग् १.७४.८

५. वाज = अन्न, बल (निघं. २.७, २.९)। वाजं वेगं, विज्ञानम् अन्नं वा, संग्रामविजयम्, धनम्, इति क्रमशः यजु. ४.३१, ऋग् ७.४२.६, यजु, १८.७४, ऋग् ६.५४.५ भाष्ये दयानन्दः।

६. जिह्रेति इति ह्रयः, न ह्रयः अह्रयः। ह्री लज्जायाम्।

अलज्जित होता हुआ (पूर्वस्मात्) पूर्व की अपेक्षा (अपरः) उन्नत हो जाता है।

सफलता, निवास, सुवीर्य, वृद्धि, पापमुक्ति

यस्मै त्वमायजसे स साधत्यनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम्।
स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥[1]

ऋषिः कुत्स आङ्गिरसः। देवता अग्निः छन्दः त्रिष्टुप्।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (यस्मै) जिसके लिए (त्वम् आयजसे) तू यज्ञ को निष्पन्न करता है (स साधति) वह सफल होता है, (अनर्वा) शत्रुओं से आक्रान्त न होता हुआ (क्षेति) निवास प्राप्त करता है, (सुवीर्यं दधते) उत्तम बल को धारण करता है। (स तूताव) वह बढ़ता है, (एनम् अंहः न अश्नोति) इसे पाप प्राप्त नहीं करता। अतः हे यज्ञाग्नि! (ते सख्ये) तेरी मित्रता में (वयं मा रिषाम) हम हिंसित न हों।

सुवीर्य, सौभाग्य, सन्तान, गो-धन, वृत्रनाश

अयमग्निः सुवीर्यस्येशे महः सौभगस्य।
राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम्॥[2]

ऋषिः उत्कीलः कात्यः। देवता अग्निः। छन्दः भुरिग् अनुष्टुप्।

(अयम् अग्निः) यह यज्ञाग्नि (सुवीर्यस्य) शोभन बल को और (महः सौभगस्य) महान् सौभाग्य को (ईशे) देने में समर्थ है, (स्वपत्यस्य) उत्तम सन्तान सहित (गोमतः) गौओं से युक्त (रायः) ऐश्वर्य को (ईशे) देने में समर्थ है और (वृत्रहथानाम्) रोगादि एवं पापादि वृत्रों के संहार में (ईशे) समर्थ है।

बल, मोक्ष, दिव्य गुण

अग्निः सनोति वीर्याणि विद्वान्त्सनोति वाजममृताय भूषन्।
स नो देवाँ एह वहा पुरुक्षो॥[3]

ऋषिः वसूयव आत्रेयाः। देवता अग्निः। छन्दः विराट्।

(विद्वान् अग्निः) विद्वान् के समान यज्ञाग्नि (वीर्याणि) बलों को (सनोति) प्रदान करता है, (भूषन्) यज्ञवेदि को अलंकृत करता हुआ वह

१. ऋग् १.९४.२ २. ऋग् ३.१६.१ ३. ऋग् ३.२५.२

यज्ञाग्नि (अमृताय) मोक्ष की प्राप्ति के लिए (वाजं) सामर्थ्य को (सनोति) प्रदान करता है। (पुरुक्षो)[1] हे बहुविध हविष्यान्नों वाले अथवा अनेक गुणों के निवास-स्थल यज्ञाग्ने! (सः) वह तू (इह) इस में (नः) हमारे लिए (देवान्) दिव्य गुणों को (आवह) प्राप्त करा।

पालन, पाप से रक्षा

यस्तं इध्मं जभरत्सिष्विदानो मूर्धानं वा ततपते त्वाया।
भुवस्तस्य स्वतवाँ पायुरग्ने विश्वस्मात्सीमघायत उरुष्य॥[2]

ऋषिः वामदेवो गौतमः। देवता अग्निः। छन्दः निचृत् त्रिष्टुप्।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (यः) जो मनुष्य (सिष्विदानः)[3] पसीने से तर-बतर होता हुआ भी (ते) तेरे लिए (इध्मं) समिधाओं के भार को (जभरत्)[4] लाता है, और (त्वाया) तेरी कामना से (मूर्धानं वा ततपते) अपने सिर को गर्मी से संतप्त करता है, (तस्य) उसका तू (स्वतवान्)[5] समृद्ध (पायुः) पालनकर्ता (भुवः) हो जाता है। (सीम्) उसकी तू (विश्वस्मात् अघायतः)[6] सब पापेच्छुओं से (उरुष्य) रक्षा कर।

पापनिवारण, ऐश्वर्यप्राप्ति

यस्त्वा दोषा य उषसि प्रशंसात् प्रियं वा त्वा कृणवते हविष्मान्।
अश्वो न स्वे दम आ हेम्यावान् तमंहसः पीपरो दाश्वांसम्॥[7]

---

१. 'पुरुक्षो पुरोडाशादि बहुविधान्नोपेत' इति सायणः। पुरु=बहु (निघं. ३.१), क्षु=अन्न (निघं. २.७)। यद्वा, पुरून् बहून् गुणान् क्षाययति निवासयतीति पुरुक्षुः। क्षि निवासगत्योः।

२. ऋग् ४.२.६

३. सिष्विदानः स्विद्यद्गात्रः। ष्विदा गात्रप्रक्षरणे।

४. हृञ् हरणे। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति हस्य: यः।

५. स्वतवान् स्वेन प्रवृद्धः इति दयानन्दः। स्वोपपदात् तुधातोरौणादिक आनि प्रत्ययः। तु गतिवृद्धिहिंसासु, सौत्रो धातुः।

६. यः परस्य अघमिच्छति ततः। अघ+क्यच्+शतृ। छन्दसि परेच्छायां क्यच्, 'अश्वाघस्यात्' इत्यात्वम्।

७. ऋग् ४.२.८

यस्तुभ्यमग्ने अमृताय दाशद् दुवस्त्वे कृणवते यतस्रुक् ।
न स राया शशमानो वि योषन्नैनमंहः परि वरदघायोः ॥[1]

ऋषिः वामदेवो गौतमः । देवता अग्निः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

हे यज्ञाग्नि ! (यः त्वा) जो तेरा (दोषा) सायंकाल में और (यः उषसि) जो उषाकाल में (प्रशंसात्) वेदमन्त्रों से गुण-वर्णन करता है, (वा) और जो (हविष्मान्) हवियुक्त होकर (त्वा) तुझे (प्रियं) हवियों से तृप्त (कृणवते) करता है, (तम् दाश्वांसम्) उस अग्निहोत्री को (स्वे दमे हेम्यावान् अश्वः न) अपने अश्वगृह में घोड़ा जैसे सुनहरी काठी से सुसज्जित होता है, वैसे ही अपने यज्ञगृह में स्वर्णिम ज्वालाओं से युक्त तू (अंहसः) पाप एवं रोगादि से (पीपरः) पार करता है ।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (यः) जो (अमृताय तुभ्यम्) तुझ अविनश्वर के लिए (दाशत्) हवि प्रदान करता है, (यतस्रुक्) यज्ञिय चमस को नियन्त्रित करता हुआ (त्वे) तेरे प्रति (दुवः कृणवते) परिचर्या करता है, (सः) वह (शशमानः)[2] मन्त्रपाठ करता हुआ (राया) ऐश्वर्य से (न वियोषत्) पृथक् नहीं होता, (एनम्) इसे (अघायोः) पापेच्छु का (अंहः) पाप (न परिवरत्) नहीं घेरता ।

पुत्र, धन, अश्व

त्वद्वाजी वाजंभरो विहाया अभिष्टिकृज्जायते सत्यशुष्मः ।
त्वद्रयिर्देवजूतो मयोभुस्त्वदाशुर्जूजुवाँ अग्ने अर्वा ॥[3]

ऋषिः वामदेवो गौतमः । देवता अग्निः । छन्दः भुरिक् पङ्क्तिः ।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (त्वत्) तुझ से (वाजी) बलवान्, (वाजंभरः) अन्न, धन, बल प्रदान करने वाला, (विहायाः) महान् (अभिष्टिकृत्) यज्ञकर्ता और (सत्यशुष्मः) सत्यप्रतिज्ञ पुत्र (जायते) उत्पन्न होता हैं, (त्वत्) तुझ से (देवजूतः) प्रभुप्रेरित (मयोभुः) सुखदायक (रयिः) धन प्राप्त होता है । (त्वत्) तुझ से (आशुः) फुर्तीला (जूजुवान्) वेगगामी (अर्वा) अश्व प्राप्त होता है ।

---

१. ऋग् ४.२.९ २. शशमानः शंसमानः (निरु. ६.८) ।
३. ऋग्. ४.११.४

पुष्टि, शत्रुविनाश, ऐश्वर्य

इ॒ध्मं यस्ते॑ ज॒भर॑च्छश्रमा॒णो म॒हो अ॑ग्ने॒ अनी॑क॒मा स॑प॒र्यन् ।
स इ॑धा॒नः प्रति॑ दो॒षामु॒षासं॒ पुष्य॑न् र॒यिं स॑चते॒ घ्नन्न॒मित्रा॑न् ॥[1]

ऋषिः वामदेवो गौतमः । देवता अग्निः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (यः) जो (शश्रमाणः) निरन्तर श्रम करता हुआ और (महः अनीकं) तेरे महान् तेज की (आ सपर्यन्) पूजा करता हुआ (ते इध्मं जभरत्) तेरे लिए समिधा लाता है, (सः) वह (प्रति दोषाम् उषासम्) प्रति सायं और प्रातः (इधानः) तुझे प्रज्वलित करता हुआ (पुष्यन्) प्रजा, पशु आदि से पुष्ट होता हुआ (अमित्रान् घ्नन्) रोगादि एवं काम, क्रोध, आलस्य आदि शत्रुओं की हिंसा करता हुआ (रयिं सचते) ऐश्वर्य प्राप्त करता है ।

मायाध्वंस, राक्षस विनाश

वि ज्योति॑षा बृह॒ता भा॑त्य॒ग्निरा॒विर्विश्वा॑नि कृणुते महि॒त्वा ।
प्रादे॑वीर्मा॒याः स॑हते दु॒रेवाः॒ शिशी॑ते॒ शृङ्गे॒ रक्ष॑से वि॒निक्षे॑ ॥[2]

ऋषिः वृशो जानः । देवता अग्निः । छन्दः निचृत् त्रिष्टुप् ।

(अग्निः) यज्ञाग्नि (बृहता ज्योतिषा) विस्तीर्ण ज्योति से (वि भाति) विभासित होता है, (महित्वा) अपनी महिमा से (विश्वानि) सबको (आविः कृणुते) प्रकाशित कर देता है । (दुरेवाः) दुष्ट चाल वाली (अदेवीः मायाः) अदिव्य मायाओं को (प्र सहते) परास्त कर देता है, (रक्षसे विनिक्षे) रोगरूप या कामक्रोधादिरूप राक्षस के विनाश के लिए (शृङ्गे) यज्ञ-धूम एवं यज्ञ-ज्वाला रूपी सींगों को (शिशीते)[3] तीक्ष्ण करता है ।

धन, बल, शत्रु से रक्षा

जु॒हु॒रे वि चि॒तय॒न्तोऽनि॑मिषं नृ॒म्णं पा॑न्ति ।
आ दृ॒ळ्हां पुरं॑ विविशुः ॥[4]

---

१. ऋग् ४.१२.२ २. ऋग् ५.२.९

३. शिशीते श्यति तनूकरोति । शो तनूकरणे इत्यस्माल्लटि विकरणव्यत्ययेन श्यनः स्थाने श्लुः आत्मनेपदं च ।

४. ऋग् ५.१९.२

ऋषि : वव्रिः आत्रेयः । देवता अग्निः । छन्दः निचृद् गायत्री ।

जो (वि चितयन्तः) समझदार लोग (जुहुरे)[1] अग्निहोत्र करते हैं, वे (अनिमिषं) निरन्तर (नृम्णं पान्ति) धन और बल की रक्षा करते हैं और (दृढां पुरं) शत्रुओं से अभेद्य नगरी में (आ विविशुः) प्रवेश पाते हैं ।

पुत्र-पौत्रों से युक्त घर

समिधा यस्त आहुतिं निशितिं मर्त्यो नशत् ।
वयावन्तं स पुष्यति क्षयमग्ने शतायुषम् ॥[2]

ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । देवता अग्निः । छन्दः निचृद् अनुष्टुप् ।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (समिधा) समिधा के द्वारा (यः मर्त्यः) जो मनुष्य (ते निशितिम्[3] आहुतिं) तेरे लिए मन्त्र-संस्कृत आहुति को (नशत्)[4] अर्पित करता है, (सः) वह (वयावन्तं[5]) पुत्र-पौत्रादियों की शाखा-प्रशाखाओं से युक्त (शतायुषं) सौ वर्ष की आयु देने वाले (क्षयम्) घर को (पुष्यति) समृद्ध करता है ।

अकीर्ति, पाप और दर्प का नाश

ईजे यज्ञेभिः शशमे शमीभिर्ऋधद्वारायाग्नये ददाश ।
एवा चन तं यशसामजुष्टिर्नांहो मर्तं नशते न प्रदृप्तिः ॥[6]

ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । देवता अग्निः । छन्दः निचृत् त्रिष्टुप् ।

जो यजमान (यज्ञेभिः) यज्ञों से (ईजे) यजन करता है, (शमीभिः) यथोचित कर्मों से (शशमे) विघ्नों का शमन करता है (ऋधद्वाराय) समृद्ध वरों वाले (अग्नये) यज्ञाग्नि के लिए (ददाश) हवि देता है, (तं मर्तं) उस मनुष्य को (एव चन) कभी भी (यशसाम्) कीर्तियों की (अजुष्टिः) अप्राप्ति

१. जुहुरे विचितयन्तः जुह्विरे विचेतयमानाः । निरु. ४.१९
२. ऋग् ६.२.५
३. निशितिं निशितां तनूकृतां मन्त्रसंस्कृताम्' इति सायणः । नि+शो तनूकरणे ।
४. नशतिर्व्याप्तिकर्मा ।
५. वयाः शाखाः पुत्रपौत्रादिलक्षणाः । 'वयाः शाखाः वेतेः वातायना भवन्ति' इति निरुक्तम् (१.४) ।
६. ऋग् ६.३.२

(न नशते) नहीं व्याप्त करती, (न अंहः) न ही पाप और (न प्रदृप्तिः) न ही महादर्प (नशते) व्याप्त करता है।

धन, तेज, यश

यस्ते॑ य॒ज्ञेन॑ स॒मिधा॒ य उ॒क्थैर॒र्केभिः॑ सूनो सहसो॒ ददा॑शत्।
स मर्त्ये॑ष्वमृत॒ प्रचे॑ता रा॒या द्यु॒म्नेन॒ श्रव॑सा॒ वि भा॑ति॥[1]

ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। देवता अग्निः। छन्द निचृत् त्रिष्टुप्।

(सहसः सूनो) हे बल के पुत्र यज्ञाग्नि! (यः ते) जो तुझे (यज्ञेन) यज्ञ से, (यः) जो (समिधा) समिधा से, (उक्थैः) वेदमन्त्रों से और (अर्केभिः) अर्चनीय स्तोत्रों से (ददाशत्) हव्य प्रदान करता है (सः) वह (अमृत) हे अमर यज्ञाग्नि! (मर्त्येषु) मनुष्यों में (प्रचेताः) प्रकृष्ट चित्त वाला होकर (राया) धन से, (द्युम्नेन) तेज से और (श्रवसा) यश से (विभाति) विशेष रूप से भासमान होता है।

बल, शत्रुपराजय, ऐश्वर्य

त्वद्विप्रो॑ जायते वा॒ज्य॑ग्ने॒ त्वद् वी॒रासो॑ अभिमाति॒षाहः॑।
वैश्वा॑नर॒ त्वम॒स्मासु॑ धेहि॒ वसू॑नि राज॒न्त्स्पृह॒याय्या॑णि॥[2]

ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्त्यः। देवता वैश्वानरः। छन्द : निचृत् पङ्क्तिः।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (त्वत्) तुझ से (विप्रः) मेधावी यजमान (वाजी जायते) बलवान् हो जाता है, (त्वत्) तुझसे (वीरासः) वीर लोग (अभिमातिषाहः) गर्वीले शत्रुओं के पराजेता बन जाते हैं। (राजन् वैश्वानर) हे यज्ञकुण्ड में देदीप्यमान यज्ञाग्नि! (त्वम् अस्मासु) तू हमें (स्पृहयाय्याणि वसूनि) स्पृहणीय ऐश्वर्य (धेहि) प्रदान कर।

यश गोधन

पी॒पाय॒ स श्रव॑सा॒ मर्त्ये॑षु॒ यो अ॒ग्नये॑ द॒दाश॒ विप्र॑ उ॒क्थैः।
चि॒त्राभि॒स्तमू॒तिभि॑श्चि॒त्रशो॑चिर्व्र॒जस्य॑ सा॒ता गोम॑तो दधाति॥[3]

ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। देवता अग्निः। छन्दः निचृत् त्रिष्टुप्।

(यः विप्रः) जो मेधावी यजमान (उक्थैः) मन्त्रोच्चारण के साथ (अग्नये) यज्ञाग्नि को (ददाश) हवि प्रदान करता है, (सः) वह (मर्त्येषु)

१. ऋग् ६.५.५ २. ऋग् ६.७.३ ३. ऋग् ६.१०.३

मनुष्यों के मध्य में (श्रवसा) यश से (पीपाय) समृद्ध होता है। (तम्) उसे (चित्रशोचिः) चित्र-विचित्र ज्वालाओं वाली यज्ञाग्नि (चित्राभिः ऊतिभिः) अद्भुत रक्षाओं के साथ (गोमतः व्रजस्य) गौओं से युक्त गोष्ठ के (साता[1] दधाति) दान का पात्र बनाती है।

गोधन की प्राप्ति और रक्षा

इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद्ददाति न स्वं मुषायति ।
भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम् ॥
न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति ।
देवाँश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥
न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि ।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः ॥[2]

ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यः। देवता गावः २ इन्द्रो वा, ३, ४ गावः। छन्दः जगती।

(इन्द्रः) परमेश्वर या राजा (यज्वने) यज्ञ करने वाले को (पृणते च) और अग्नि में हवि प्रदान करने वाले को (शिक्षति)[3] अभीष्ट गो-धन देता है, (उप ददाति इत्) निश्चय ही समीप आकर देता है, (स्वं) उसके गोधन को (न मुषायति) अपहरण नहीं करता। (भूयः भूयः) अधिकाधिक (अस्य रयिम्) इसके गोधन को (वर्धयन् इत्) बढ़ाता हुआ ही (देवयुम्) उस देवयज्ञ करने वाले को (अभिन्ने खिल्ये) अभेद्य सुरक्षित स्थान में (निदधाति) निवास कराता है।

(याभिः) जिन गौओं से अर्थात् उनसे प्राप्त दुग्ध-घृतादि से (गोपतिः) गोस्वामी (यजते) यज्ञ करता है (ददाति च) और दान करता है, (ताभिः सह) उनके साथ वह (ज्योक्) चिरकाल तक (सचते) संयुक्त रहता है। (ताः) उसकी वे गौएं (न नशन्ति) न नष्ट होती हैं, (न तस्करः दभाति) न चोर

---

१. साता सातौ संभजने। षण सम्भक्तौ, 'ऊतियूतिजूतिसाति' इत्यनेन निपातितः। सुपां सुलुगिति सप्तम्यैकवचनस्य डादेशः।

२. ऋग् ६.२८.२-४

३. शिक्षति = ददाति (निघ. ३.२०)।

उन्हें बलपूर्वक हरता है, (न आसां) न इन्हें (आमित्र: व्यथि:) शत्रु का शस्त्र (आ दधर्षति) आक्रान्त करता है।

उस यज्ञकर्ता की (ता:) उन गौओं को (रेणुककाट:) काट-काट कर टुकड़े करने वाला (अर्वा[1]) हिंसक प्राणी (न अश्नुते) नहीं प्राप्त करता है, (न ता:) न वे गौएं (संस्कृतत्रम्[2] उपयन्ति) वधालय में जाती हैं। अपि तु (तस्य यज्वन: मर्तस्य) उस यज्ञशील मनुष्य की (ता: गाव:) वे गौएं (अभयं) निर्भयतापूर्वक (उरुगायं) खुले चरागाहों में (विचरन्ति) विचरती हैं।

रोगों और पापों से मुक्ति

सेदग्निर्यो वनुष्यतो निपाति समेद्धारमंहस उरुष्यात्।
सुजातासः परि चरन्ति वीराः ॥[3]

ऋषि: वसिष्ठ:। देवता अग्नि:। छन्द: एकाशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री।

(स: इत् अग्नि:) यज्ञाग्नि वही है (य:) जो (समेद्धारं) समिद्ध करने वाले यजमान को (वनुष्यत:) हिंसक रोगादि से (निपाति) बचाता है और उसकी (अंहस:) पाप से (उरुष्यात्) रक्षा करता है और जिसकी (सुजातास:) शुभ जन्म पाने वाले (वीरा:) वीरजन (परिचरन्ति) अग्निहोत्र द्वारा सेवा करते हैं।

अश्व-वाहन, यश, पापमुक्ति

यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये।
यो नमसा स्वध्वरः ॥

तस्येदर्वन्तो रंहयन्त आशवस्तस्य द्युम्नितमं यशः।
न तमंहो देवकृतं कुतश्चन न मर्त्यकृतं नशत् ॥[4]

ऋषि: सोभरि: काण्व:। देवता अग्नि:। छन्द: ५ ककुबुष्णिक्, ६. निचृत् पङ्क्ति:।

---

१. अर्व हिंसाम्।

२. संस्क्रियन्ते विशस्यन्ते पशव: अत्र इति संस्कृतत्रं वधालय:।

३. ऋग् ७.१.१५ ४. ऋग् ८.१९.५,६

(यः मर्तः) जो मनुष्य (समिधा) पलाश आदि की समिधा द्वारा (यः आहुती[1]) जो मनुष्य घृत आदि की आहुति द्वारा (यः वेदेन) जो मनुष्य वेदमन्त्र द्वारा, (यः स्वध्वरः) और जो शोभन यज्ञ करने वाला मनुष्य (नमसा[2]) चरु पुरोडाश आदि अन्न द्वारा अथवा श्रद्धा के साथ (अग्नये) यज्ञाग्नि को (ददाश) हवि अर्पित करता है, (तस्य इत्) उसको निश्चय ही (आशवः) शीघ्रगामी (अर्वन्तः) घोड़े (रंहयन्ते) वेगपूर्वक ले जाते हैं, (तस्य) उसका (द्युम्नितमं) अतिशय देदीप्यमान (यशः) यश होता है, (तम्) उसे (कुतश्चन) कहीं से (न देवकृतम् अंहः) न इन्द्रियजन्य पाप और (न मर्त्यकृतम् अंहः) न ही मनुष्यजन्य पाप (नशत्) प्राप्त होता है।

ऐश्वर्य-प्राप्ति

यदा वीरस्य रेवतो दुरोणे स्योनशीरतिथिराचिकेतत्।
सुप्रीतो अग्निः सुधितो दम आ स विशे दाति वार्यमियत्यै ॥[3]

ऋषिः वसिष्ठः। देवता विश्वेदेवा (अग्निः)। छन्दः विराड् त्रिष्टुप्।

(यदा) जब (रेवतः वीरस्य) धनवान् वीर के (दुरोणे) घर में (स्योनशीः) सुख से शयन करने वाला (अतिथिः) यज्ञाग्नि रूपी अतिथि (आचिकेतत्[4]) निवास करता है तब (दमे) यज्ञगृह में (सुधितः) सुनिहित और (सुप्रीतः) सुतर्पित (अग्निः) वह यज्ञाग्नि (इयत्यै विशे) समीप आने वाली प्रजा के लिए (वार्यं) वरणीय ऐश्वर्य (आ दाति) चारों ओर से प्रदान करता है।

धन, पुत्र, विजय, तेज, बुद्धि और यश

यस्य त्वमूर्ध्वो अध्वराय तिष्ठसि क्षयद्वीरः स साधते।
सो अर्वद्भिः सनिता स विपन्युभिः स शूरैः सनिता कृतम् ॥

यस्याग्निर्वपुर्गृहे स्तोमं चनो दधीत विश्ववार्यः।
हव्या वा वेविषद् विषः ॥[5]

---

१. आहुती = आहुत्या। सुपां सुलुगिति पूर्वसवर्णदीर्घः।
२. नमः = अन्न (निघं. २.७)। ३. ऋग् ७.४२.४
४. कित निवासे। बहुलं छन्दसीति शपः श्लौ द्वित्वम्।
५. ऋग् ८.१९.१०, ११.

यो अग्निं हव्यदातिभिर्नमोभिर्वा सुदक्षमाविवासति ।
गिरा वाजिरशोचिषम् ॥

समिधा यो निशिती दाशददितिं धामभिरस्य मर्त्यः ।
विश्वेत्स धीभिः सुभगो जनाँ अति द्युम्नैरुद्न इव तारिषत् ॥[1]

ऋषिः सोभरिः काण्वः । देवता अग्निः । छन्दः १० सतः पङ्क्तिः, ११, १३ उष्णिक्, १४ पङ्क्तिः ।

(यस्य) जिस यजमान के (अध्वराय) यज्ञ के लिए (त्वम् उर्ध्वः तिष्ठसि) तू उर्ध्वगामी रहता है (सः) वह (क्षयद्वीरः[2]) निवासयुक्त तथा गतिशील वीर पुत्रों से युक्त होता हुआ (साधते) सफल होता है। (सः अर्वद्भिः) वह घोड़ों से और (सः विपन्युभिः[3]) वह मेधावी स्तुतिशील पुत्रों से (कृतं सनिता) धन, विजय आदि को पा लेता है, (सः शूरैः) वह शूरवीर पुत्रों से (कृतं सनिता) धन, विजय आदि को पा लेता है।

(यस्य गृहे) जिसके घर में (वपुः) रूपवान् (विश्ववार्यः) सबसे वरणीय (अग्निः) यज्ञाग्नि (स्तोमं) मन्त्र-स्तोम को और (चनः) हविष्यान्न को (दधीत) धारण करता है, (वा) और (विषः[4]) चारों और फैले हुए मनुष्यों के पास (हव्या) सुगन्धित हवियों को (वेविषत्[5]) पहुंचाता है, वह मनुष्य सफल होता है।

(यः) जो मनुष्य (हव्यदातिभिः) हवियों के दान द्वारा (नमोभिः वा) और हविष्यान्नों के द्वारा, (गिरा वा) और वेदमन्त्रों के द्वारा (सुदक्ष) शुभ बल वाले, (अजिरशोचिषम्) क्षिप्रगामी तेज वाले (अग्निम्) यज्ञाग्नि को (आविवासति) पूजता है; (यः मर्त्यः) जो मनुष्य (निशिती समिधा) गढ़ी-छिली समिधाओं के द्वारा (अदिति) अखण्डनीय यज्ञाग्नि को (दशत्) पूजित करता है, (सः) वह (सुभगः) सौभाग्यवान् होता हुआ (अस्य धामभिः)

---

१. ऋग् ८.१९.१३,१४

२. 'क्षयद्वीरः निवसद्भिः इत्वरैः वा वीरैः पुत्रादिभिरुपेतः'—सायणः । क्षि निवास गत्योः ।

३. विपन्युः = मेधावी (निघं ३. १५) वि + पण स्तुतौ ।

४. विषः व्याप्तान् मनुष्यान् । विष्लृ व्याप्तौ ।

५. वेविषत् । विष्लृ व्याप्तौ । लेटि रूपम् ।

इसके तेजों से (धीभिः) बुद्धियों से (द्युम्नैः) और यशों से (विश्वा[1] इत् जनान्) सभी जनों को (अति तारिषत्) अतिक्रान्त कर देता है, (उद्नः इव) जैसे कोई जलों को तैर कर अतिक्रान्त करता है।

सद्विचार, सत्कर्म, धन

ते घेदग्ने स्वाध्यो॒३ये त्वा विप्र निदधि॒रे नृचक्षसम्।
विप्रासो देव सुक्रतुम् ॥
त इद् वेदिं सुभग॒ त आहुतिं ते सोतुं चक्रिरे दि॒वि।
त इद् वाजेभिर्जिग्युर्महद्धनं॒ ये त्वे कामं न्येरि॒रे ॥[2]

ऋषिः सोभरिः काण्वः। देवता अग्निः। छन्दः १७ उष्णिक्, १८ पङ्क्तिः।

हे (विप्र[3]) विशेष रूप से पालन पोषण करने वाले (देव) प्रकाशमान और प्रकाशक (अग्ने) यज्ञाग्नि ! (ते विप्रासः[4]) वे मेधावी जन (घ इत्) निश्चय ही (स्वाध्यः) उत्तम विचार और कर्म वाले हो जाते हैं (ये) जो (नृचक्षसम्) मनुष्यों पर अनुग्रहदृष्टि रखने वाले (सुक्रतुम्) उत्तम यज्ञसाधक (त्वा) तुझे (निदधिरे) यज्ञवेदि में निहित करते हैं।

(सुभग) हे शुभ ऐश्वर्यों वाले यज्ञाग्नि ! (ये) जो मनुष्य (त्वे) तुझमें (कामं) अपनी अभिलाषा को (न्येरिरे) केन्द्रित करते हैं (ते इत्) वे ही (वेदिं) यज्ञवेदि को (चक्रिरे) बनाते हैं, (ते आहुतिं चक्रिरे) वे ही आहुति को देते हैं, (ते दिवि सोतुं चक्रिरे) वे ही यज्ञदिवस में सोमसवन करते हैं और (ते इत्) वे ही (वाजेभिः) अपने बलों से (महद् धनं जिग्युः) प्रचुर धन को जीत लेते हैं।

वरणीय गुण

यो ह॒व्यान्यैरयता मनुर्हितो दे॒व आ॒सा सु॒ग॒न्धिना।
विवासते॒ वार्याणि स्वध्व॒रो होता दे॒वो अमर्त्यः ॥[5]

---

१. विश्वा=विश्वान्। सुपां सुलुगिति शस आकारादेशः।
२. ऋग्. ८.१९.१७,१८
३. विशेषेण प्राति पूरयति इति विप्रः। वि+प्रा पूरणे।
४. विप्राः मेधाविनः (निघं. ७.१८)। ५. ऋग् ८.१९.२४

ऋषि: सोभरि: काण्व: । देवता अग्नि: । छन्द: आर्ची स्वराट् पङ्क्ति: ।

(य:) जो (मनुर्हित:) मनुष्यों के लिए हितकर (देव:) प्रकाशमान और प्रकाशक यज्ञाग्नि (सुगन्धिना आसा) सुगन्धित ज्वालारूपी मुख से (हव्यानि) हवियों को (ऐरयत) स्थानान्तर में पहुंचाता है, वह (स्वध्वर:) शुभ यज्ञ वाला (होता) होमसाधक (अमर्त्य:देव:) अमर दिव्य अग्नि (वार्याणि) वरणीय गुणों को (विवासते) प्रदान करता है।

पापनाश और दुग्ध, अन्न, धन, यश एवं पुत्र की प्राप्ति

यो यजा॑ति॒ यजा॑त॒ इत्सु॒नव॑च्च॒ पचा॑ति च ।
ब्र॒ह्मेदिन्द्र॑स्य चाकनत् ॥

पु॒रो॒ळाशं॒ यो अ॑स्मै॒ सोमं॒ रर॑त आ॒शिर॑म् ।
पादि॒त्तं श॒क्रो अंह॑सः ॥

तस्य॑ द्यु॒माँ अ॑स॒द्रथो॑ दे॒वजू॑त॒ः स शू॑शुवत् ।
वि॒श्वा॑ व॒न्वन्न॑मि॒त्रिया॑ ॥

अस्य॑ प्र॒जाव॑ती गृ॒हेऽस॑श्चन्ती दि॒वेदि॑वे ।
इळा॑ धे॒नुम॑ती दुहे ॥

या दंप॑ती॒ सम॑नसा सु॒नुत आ च॒ धाव॑तः ।
देवा॑सो॒ नित्य॑या॒शिरा॑ ॥

प्रति॑ प्रा॒श॒व्याँ॑ इतः स॒म्यञ्चा॑ ब॒र्हिरा॑शाते ।
न ता वाजे॑षु वायतः ॥

न दे॒वाना॒मपि॑ ह्नुतः सुम॒तिं न जु॑गुक्षतः ।
श्रवो॑ बृ॒हद्वि॑वासतः ॥

पु॒त्रिणा॒ ता कु॑मा॒रिणा॒ विश्व॒मायु॒र्व्य॑श्नुतः ।
उ॒भा हिर॑ण्यपेशसा ॥[1]

---

१. ऋग्. ८.३१.१-८

वीतिहोत्रा कृतद्वसू दशस्यन्तामृताय कम्।
समूधो रोमशं हतो देवेषु कृणुतो दुवः ॥[१]

ऋषिः मनु वैवस्वतः। देवता १-४ यज्ञस्तवः यजमानप्रशंसा च। ५-९ दम्पती। छन्दः १-८ गायत्री, ९ अनुष्टुप्।

(यः) जो यजमान (यजाति) यज्ञ करता है, (यजाते इत्) नित्य नियम से यज्ञ करता रहता है, (सुनवत् च) यज्ञार्थ सोमरस अभिषुत करता है, (पचाति च) और यज्ञार्थ पुरोडाश आदि को पकाता है, तथा (इन्द्रस्य) परमेश्वर के प्रति (ब्रह्मा[२]) मन्त्रपाठ (चाकनत्[३]) पुनः पुनः करना चाहता है, और (यः) जो मनुष्य (अस्मै) इस यज्ञाग्नि के लिए (पुरोडाशं) पुरोडाश को तथा (आशिरं सोमं) गोदुग्ध से मिश्रित सोमरस को (ररते[४]) प्रदान करता है, (तम्) उसे (शक्रः) शक्तिशाली परमेश्वर (अंहसः) पाप रोग आदि से (पात् इत्) अवश्य ही बचाता है। १,२।

(तस्य) उस यजमान का (रथः) शरीर रूपी रथ अथवा यात्रा का साधन यान (द्युमान् असत्) देदीप्यमान हो जाता है। (देवजूतः सः) परमेश्वर से प्रेरणाप्राप्त वह (विश्वा अमित्रिया[५]) सब शत्रु-जनित विघ्न आदि को (वन्वन्) नष्ट करता हुआ (शूशुवत्[६]) वृद्धि को प्राप्त करता है। ३।

(अस्य गृहे) इस यजमान के घर में (दिवे दिवे) प्रतिदिन (प्रजावती) बछड़े-बछियों वाली, (असश्चन्ती) प्रतिकूलता प्रकट न करने वाली (धेनुमती) तृप्ति प्रदान करने वाली (इडा) गाय (दुहे) दूध देती है। ४।

(देवासः) हे विद्वानो! (या दम्पती) जो पति-पत्नी (समनसा) समान मन वाले होकर (सुनुतः) यज्ञार्थ सोम-अभिषुत करते हैं (च) और उस अभिषुत सोम को (नित्यया आशिरा) सदा सुलभ गोदुग्ध से (आधावतः) मिश्रित या परिशुद्ध करते हैं तथा यज्ञार्थ (प्राशव्यान् प्रति इतः) भक्षण योग्य अन्नादि

---

१. ऋग् ८.३१.९
२. ब्रह्मा = ब्रह्माणि वेदमन्त्रानित्यर्थः। 'शेश्छन्दसि बहुलमि' ति शेर्लोपः।
३. पुनःपुनः कामयते। कनी दीप्तिकान्तिगतिषु।
४. रा दाने धातोर्लटि 'बहुलं छन्दसि' इति शपः श्लुः, व्यत्ययेनात्मनेपदं च।
५. विश्वा अमित्रिया = विश्वानि अमित्रियाणि। अमित्रेभ्य आगतानि विघ्नादीनि।
६. टुओश्वि गतिवृद्ध्योः।

को प्राप्त करते हैं, एवं (सम्यञ्चा) साथ मिलकर (बर्हिः आशाते) यज्ञ में स्थित होते हैं (ता[1]) वे दोनों (वाजेषु) संसार-संग्रामों में (न वायतः) कभी हानि प्राप्त नहीं करते। ५, ६।

जो यजमान पति-पत्नी (देवानां न अपि ह्नुतः[2]) देवजनों के प्रति देय भाग का अपलाप नहीं करते अर्थात् यज्ञ में स्वाहापूर्वक देवों को उनका हव्य भाग प्रदान करते रहते हैं और (सुमतिं न जुगुक्षतः[3]) उनके प्रति मन्त्रों द्वारा शोभनस्तुति का संवरण नहीं करते, वे (बृहत् श्रवः) महान् अन्न, यश आदि को (विवासतः) प्राप्त करते हैं। ७।

(ता) वे पति-पत्नी (पुत्रिणा) पुत्रवान् और (कुमारिणा) कुमारवान् होते हुए (विश्वम् आयुः) पूर्ण आयु को (व्यश्नुतः) प्राप्त करते हैं, तथा (उभा) दोनों (हिरण्यपेशसा) सुवर्णादि धनों से रूपवान् होते हैं। ८।

(वीतिहोत्रा) यज्ञ-हवन से प्रीति करने वाले वे पति-पत्नी (कृतद्वसू) धन का उपार्जन करते हुए, (अमृताय) सुख के लिए (कम्) उस धन को (दशस्यन्ता) दान करते हुए (रोमशम् ऊधः) रोमों वाली गाय के ऊधस् को (संहतः) प्राप्त करते हैं अर्थात् उन्हें विशाल ऊधस् वाली गौएं प्राप्त होती हैं, तथा (देवेषु) विद्वानों में (दुवः) पूजा-प्रशंसा को (कृणुतः) प्राप्त करते हैं। ९।

अन्न, तेज, बल

यस्ते अग्ने सुमतिं मर्तो अक्षत्सहसः सूनो अति स प्र शृण्वे।
इषं दधानो वहमानो अश्वैरा स द्युमाँ अमवान् भूषति द्यून् ॥[4]

ऋषिः हविर्धान आङ्गिः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।

(सहसः सूनो अग्ने) हे बल के पुत्र यज्ञाग्नि! (यः मर्तः) जो मनुष्य (ते सुमतिम्) तेरी सुमति को (अक्षत्[5]) प्राप्त कर लेता है, (स प्र शृण्वे) वह प्रख्यात हो जाता है। (सः) वह (इषं दधानः) अन्न को धारण करता हुआ तथा उसे (अश्वैः वहमानः) घोड़ों से स्थानान्तर पर पहुंचाता हुआ स्वयं

---

१. 'या समनसा सम्यञ्चा ता' सर्वत्र सुपां सुलुगिति प्रथमाद्विवचनस्य आकारादेशः। एवमग्रेऽप्यूह्यम्।

२. ह्नुङ् अपनये।

३. गुहू संवरणे।

४. ऋग् १०.११.७

५. अक्षू व्याप्तौ।

(द्युमान्) तेजस्वी तथा (अमवान्) वलवान् होता हुआ (द्यून्) अपने जीवन के दिनों को (आभूषति) अलंकृत करता है।

सहस्र लाभ

यो अस्मा अन्नं तृष्वा दधात्याज्यैर्घृतैर्जुहोति पुष्यति।
तस्मै सहस्रमक्षभिर्वि चक्षेऽग्ने विश्वतः प्रत्यङ्ङसि त्वम्॥[1]

ऋषिः अग्निः सौचीकः, वैश्वानरो वा, सप्ति र्वा वाजंभरः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।

(यः) जो यजमान (अस्मै) इस यज्ञाग्नि को (तृषु) शीघ्र (अन्नम्) अन्न (आ दधाति) प्रदान करता है, (आज्यैः[2] घृतैः) पिघले हुए घृतों से (जुहोति) आहुति देता है, (पुष्यति) और परिपुष्ट करता है, (तस्मै) उसके लिए तू (अक्षभिः[3]) अपनी ज्वालाओं से (सहस्रम्) सहस्रों लाभों को (विचष्टे) विशेष रूप से प्रकाशित करता है। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (त्वम्) तू (विश्वतः) सर्वात्मना (प्रत्यङ् असि) हमारे अनुकूल होता है।

रोग एवं कामक्रोधादि का विनाश

अग्ने हंसि न्य१त्रिणं दीद्यन्मर्त्येष्वा। स्वे क्षये शुचिव्रत॥[4]

ऋषिः उरुक्षयः आमहीयवः। देवता अग्निः रक्षोहा। छन्दः पिपीलका-मध्या गायत्री।

(शुचिव्रत अग्ने) हे पवित्र व्रत वाले यज्ञाग्नि! तू (मर्त्येषु) मनुष्यों के मध्य में (स्वे क्षये) अपने यज्ञगृह में (दीद्यन्) प्रकाशित होता हुआ (अत्रिणं) भक्षक रोगों, रोगकृमियों एवं कामक्रोधादि शत्रुओं को (नि हंसि) निःशेष रूप से नष्ट कर देता है।

---

१. ऋग्. १०.७९.५
२. आज्य और घृत दोनों शब्द घी के वाचक होते हैं। किन्तु यहां 'आज्य शब्द घृत' के विशेषण रूप में प्रयुक्त होने से यौगिक अर्थ को देता है। अज गतिक्षेपणयोः अजति क्षरति इत्याज्यम्।
३. अक्षभिः व्याप्ताभिः ज्वालाभिः। अक्षू व्याप्तौ।
४. ऋग्. १०.११८.१

ऋषित्व की प्राप्ति

अस्य प्रत्नामनु द्युतं शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः ।
पयः सहस्रसामृषिम् ॥[1]

ऋषिः अवत्सारः । देवता अग्निः । छन्दः गायत्री ।

(अह्रयः) अलज्जित याज्ञिक लोग (अस्य) इस यज्ञाग्नि की (प्रत्नाम्) पुरातन (शुक्रं) पवित्र और तेजोमयी (द्युतम् अनु) द्युति से (सहस्रसां) सहस्रों लाभों को पहुंचाने वाले (ऋषिम्) ऋषि बना देने वाले (पयः) यज्ञफल रूप दूध को (दुदुह्रे) दुह लेते हैं, प्राप्त कर लेते हैं ।

गृहरक्षा, धन, बल, वृष्टि, अन्न, यश, रोगनिवारक शक्ति

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सह आ यच्छस्व ॥
अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्द्धनः ।
अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सह आ यच्छस्व ॥[2]

ऋषिः आसुरिः । देवता अग्निः । छन्दः ३९ भुरिग् बृहती, ४० निचृद अनुष्टुप् ।

(अयम् अग्निः) यह यज्ञाग्नि (गृहपतिः) गृहों का रक्षक है, (गार्हपत्यः)[3] गृहस्थों से संप्रयुक्त होकर (प्रजायाः) सन्तान को (वसुवित्तमः) अतिशय धन प्रदान करने वाला है । (गृहपते अग्ने) हे गृहों के रक्षक यज्ञाग्नि ! तू (अभि) हमारे प्रति (सहः) बल को (आयच्छस्व) ला ।

(अयम् अग्निः) यह यज्ञाग्नि (पुरीष्यः) जल बरसाने वाला (रयिमान्) ज्वाला रूपी धन से युक्त तथा (पुष्टिवर्धनः) पुष्टि को बढ़ाने वाला है । (पुरीष्य अग्ने) हे वर्षा करने वाले यज्ञाग्नि ! (अभि) हमारे प्रति (द्युम्नम्) यश और अन्नादि को तथा (सहः) रोगादि की प्रतिरोधक शक्ति को (आयच्छस्व) ला ।

---

१. यजु. ३.१६ २. यजु. ३.३९.४०

३. गार्हपत्यः गृहपतिना संयुक्तः । अत्र 'गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः' इति ञ्यः प्रत्ययः । इति दयानन्दभाष्ये ।

कल्याण, षड्विध ऐश्वर्य, प्रशस्ति

**भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः ।
भद्रा उत प्रशस्तयः ॥[1]**

ऋषिः परमेष्ठी । देवता अग्निः । छन्दः उष्णिक् ।

(आहुतः अग्निः) आहुति दिया हुआ अग्नि (नः भद्रः) हमारे लिए कल्याणकारी होता है, (रातिः भद्रा) उसकी देन भद्र होती है (सुभग[2]) हे धन, धर्म, यश, शोभा, ज्ञान और वैराग्य इन षड्विध ऐश्वर्यों को देने वाले यज्ञाग्नि ! (अध्वरः भद्रः) तुझसे सम्पन्न होने वाला यज्ञ हमारे लिए भद्र होता है, (उत) और (प्रशस्तयः भद्राः) तुझसे हमें भद्र प्रशस्तियां प्राप्त होती हैं ।

मोक्ष, योगसिद्धि

**स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥[3]**

ऋषिः विधृतिः । देवता अग्निः । छन्दः निचृदनुष्टुप् ।

(ये सुविद्वांसः) जो श्रेष्ठ विद्वान् जन (विश्वतोधारं यज्ञं) सर्वतोधार यज्ञ को (वितेनिरे) फैलाते हैं, वे (स्वः यन्तः) मोक्षलोक को जाते हुए (न अपेक्षन्ते) यज्ञ से अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करते तथा (द्याम् आरोहन्ति) अन्तःप्रकाश को प्राप्त कर लेते हैं और (रोदसी आरोहन्ति) आकाश पृथिवी में अर्थात् उनमें स्थित लोकलोकान्तरों में इच्छानुसार चले जाते हैं ।[4]

इच्छा-सिद्धि

**इष्टो यज्ञो भृगुभिराशीर्दा वसुभिः ।
तस्य न इष्टस्य प्रीतस्य द्रविणेहा गमेः ॥[5]**

---

१. यजु, १५.३८

२. शोभनो भगो यस्मात् स सुभगः ।
'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥'

३. यजु. १७.६८ ४. द्रष्टव्य : इस मन्त्र पर दयानन्दभाष्य । ५. यजु. १८.५६

ऋषि: गालव: । देवता यज्ञ: । छन्द: उष्णिक् ।

(भृगुभि:) परिपक्व विज्ञान वाले (वसुभि:) निवासक ऋत्विजों द्वारा (आशीर्दा:) इच्छासिद्धि को देने वाला (यज्ञ:) यज्ञ (इष्ट:) सम्पन्न किया गया है। (तस्य) उस (प्रीतस्य) हम पर प्रसन्न तथा (इष्टस्य) सम्पन्न किये गये यज्ञ के (द्रविण) हे फल ! तू (इह आगमे:) यहां हमें प्राप्त हो।

इन्द्रिय शक्ति

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहा मनसे स्वाहा ॥[1]

ऋषि: प्रजापति: । देवता प्राणादया: । छन्द स्वराडनुष्टुप् ।

(प्राणाय) प्राण के उत्कर्ष के लिए (स्वाहा) हम अग्निहोत्र करते हैं, (अपानाय) अपान के उत्कर्ष के लिए (स्वाहा) हम अग्निहोत्र करते हैं, (व्यानाय) व्यान के उत्कर्ष के लिए (स्वाहा) हम अग्निहोत्र करते हैं, (चक्षुषे) आंख के उत्कर्ष के लिए (स्वाहा) हम अग्निहोत्र करते हैं, (श्रोत्राय) श्रोत्र के उत्कर्ष के लिए (स्वाहा) हम अग्निहोत्र करते हैं, (वाचे) वाणी के उत्कर्ष के लिए (स्वाहा) हम अग्निहोत्र करते हैं, (मनसे) मन के उत्कर्ष के लिए (स्वाहा) हम अग्निहोत्र करते हैं।

यज्ञाग्नि से प्रार्थनाएं

भरामेध्मं कृणवामा हवींषि चितयन्तः पर्वणा पर्वणा वयम् । जीवातवे प्रतरं साधया धियोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥[2]

ऋषि: कुत्स आङ्गिरस: । देवता अग्नि: । छन्द: जगती ।

हे यज्ञाग्नि ! (पर्वणा पर्वणा) अंग-अंग से (चितयन्त:) प्रवुद्ध होते हुए (वयम्) हम (इध्मं भराम) तेरे लिए समिधा लायें, (ते हवींषि कृणवाम) तेरे लिए हवियां दें। तू (जीवातवे) दीर्घ एवं सुखी जीवन के लिए (धिय:[3]) हमारे ज्ञान और कर्मों को (प्रतरं साधय) प्रकृष्ट रूप में सिद्ध कर। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (वयं तव सख्ये) हम तेरी मित्रता में (मा रिषाम) हिंसित न हों।

---

१. यजु. २२.२३ २. ऋग्. १.९४.४
३. धी: = कर्म, प्रज्ञा (निघं. २.१, ३.९)।

अन्न, कीर्ति, सन्तान

उभयं ते न क्षीयते वसव्यं दिवेदिवे जायमानस्य दस्म ।
कृधि क्षुमन्तं जरितारमग्ने कृधि पतिं स्वपत्यस्य रायः ॥[1]

ऋषिः गृत्समदः शौनकः । देवता अग्निः । छन्दः निचृत् त्रिष्टुप् ।

(दस्म)[2] हे दर्शनीय तथा रोगादि के नाशक यज्ञाग्नि ! (दिवे दिवे जायमानस्य ते) प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले तेरा (उभयं वसव्यं) आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों प्रकार का फल (न क्षीयते) कभी न्यून नहीं होता । अतः (अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! तू (जरितारं) वेदमन्त्रों द्वारा स्तवन करने वाले को (क्षुमन्तं)[3] अन्नवान् तथा कीर्तिमान् (कृधि) कर और उसे (स्वपत्यस्य रायः) उत्तम सन्तानयुक्त धन का (पतिं कृधि) स्वामी बना ।

स्थिर ऐश्वर्य

यस्ते भरादन्नियते चिदन्नं निशिषन्मन्द्रमतिथिमुदीरत् ।
आ देवयुरिनधते दुरोणे तस्मिन् रयिर्ध्रुवो अस्तु दास्वान् ॥[4]

ऋषिः वामदेवो गौतमः । देवता अग्निः । छन्दः निचृत् त्रिष्टुप् ।

हे यज्ञाग्नि ! (यः) जो मनुष्य (अन्नियते ते) हविष्यान्न की इच्छा करने वाले तेरे लिए (अन्नं भरात्) हविष्यान्न प्रदान करता है, (मन्द्रं) मदजनक सोम को (निशिषत्)[5] अर्पित करता है, (अतिथिं) अतिथितुल्य तुझे (उदीरत्) यज्ञकुण्ड में ले जाता है और (देवयुः) देवयज्ञ की कामना वाला जो (दुरोणे) अपने घर में (इनधते) तुझे समिद्ध करता है, (तस्मिन्) उसके पास (दास्वान्) सुख प्रदान करने वाला (ध्रुवः रयिः[6]) स्थिर ऐश्वर्य अथवा वैदिक मार्ग में स्थिर रहने वाला पुत्र (अस्तु) हो ।

अमति दुर्मति-विनाश, कल्याणप्राप्ति

आरे अस्मदमतिमारे अंह आरे विश्वां दुर्मतिं यन्निपासि ।
दोषा शिवः सहसः सूनो अग्ने यं देव आ चित्सचसे स्वस्ति ॥[7]

---

१. ऋग्. २.९.५
२. दसि दर्शनदशनयोः ।
३. 'अन्नवन्तं कीर्तिमन्तं वा'—सायणः ।
४. ऋग्. ४.२.७
५. नि+शासु अनुशिष्टौ ।
६. 'रयिः पुत्रः ध्रुवः आस्तिक्यबुद्ध्या वैदिकमार्गे निश्चलः अस्तु'—सायणः ।
७. ऋग्. ४.११.६

ऋषिः वामदेवो गौतमः । देवता अग्निः । छन्दः निचृत् त्रिष्टुप् ।

हे यज्ञाग्नि ! तू (यत्) क्योंकि (निपासि) सबकी रक्षा करता है, अतः (अस्मत्) हमसे (अमतिम्) अमति को (आरे) दूर रख, (अंहः) पाप को (आरे) दूर रख, (विश्वां दुर्मतिं) समस्त दुर्बुद्धि को दूर रख। (सहसः सूनो अग्ने) हे बल के पुत्र यज्ञाग्नि ! तू (दोषा) रात्रि में (शिवः) हमारे लिए सुखकर हो। (देवः) प्रकाशमान और प्रकाशक तू (यं चित्) जिसको भी (आ सचसे) आकर प्राप्त होता है (स्वस्ति) उसका कल्याण कर।

यश, अमृतत्व

यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि ।
जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम् ॥[1]

ऋषिः वसुश्रुत आत्रेयः । देवता अग्निः । छन्दः भुरिक् पङ्क्तिः ।

(यः मर्त्यः) जो मरणधर्मा मैं (मन्यमानः) श्रेष्ठ मानता हुआ (अमर्त्यं त्वा) तुझ अमर यज्ञाग्नि को (कीरिणा[2] हृदा) स्तुतिशील मन से (जोहवीमि[3]) आहुत करता हूं, उससे तू (जातवेदः) हे उत्पन्न प्राणियों को प्रकाश देने वाले यज्ञाग्नि ! (अस्मासु यशः धेहि) हममें यश स्थापित कर। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! मैं (प्रजाभिः) सन्तानों सहित (अमृतत्वम् अश्याम्) मोक्ष को प्राप्त करूं।

गृहरक्षा, तेजस्विता

वयमु त्वा गृहपते जनानामग्ने अकर्म्म समिधा बृहन्तम् ।
अस्थूरि नो गार्हपत्यानि सन्तु तिग्मेन नस्तेजसा संशिशाधि ॥[4]

ऋषिः भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा । देवता अग्निः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

(जनानां गृहपते) हे मनुष्यों के घरों के रक्षक यज्ञाग्नि ! (वयम् उ त्वा) हम तुझे (समिधा) समिधा के द्वारा (बृहन्तम् अकर्म) प्रवृद्ध करते हैं। (नः गार्हप-

---

१. ऋग्. ५.४.१०
१. कीरिः=स्तोता (निघं. ३.१६)।
३. हु दानादनयोः । यङ्लुकि रूपम् । अतिशयेन पुनः पुनः जुहोमीत्यर्थः ।
४. ऋग्. ६.१५.१९

त्यानि) तेरे द्वारा की जाने वाली हमारी गृह-रक्षाएं (अस्थूरि[1] सन्तु) अनल्प या परिपूर्ण हों। (तिग्मेन तेजसा) अपने प्रखर तेज से (नः संशिशाधि) हमें तेजस्वी कर।

शरीर-रक्षा, दीर्घायुष्य, वर्चस्, अंगों की परिपूर्णता

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे
देहि वर्च्चोदा अग्नेऽसि वर्च्चो मे देहि।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥[2]

ऋषिः अवत्सारः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुप्।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (तनूपा असि) तू शरीरों का रक्षक है, (मे तन्वं पाहि) मेरे शरीर की रक्षा कर। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (आयुर्दा असि) तू आयु का दाता है, (मे आयुः देहि) मुझे आयु प्रदान कर। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि! तू (वर्च्चोदाः असि) तेज को देने वाला है, (मे वर्च्चः देहि) मुझे तेज प्रदान कर। (अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (यत् मे तन्वाः ऊनम्) जो मेरे शरीर का अंग न्यूनता वाला है (तत् मे आपृण) उस मेरे अंग को पूर्णतायुक्त कर।

दीर्घायुष्य, वर्चस्, सन्तान, धन की पुष्टि

सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्च्चसागथाः समृषीणां स्तुतेन।
सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्च्चसा सं प्रजया
सं रायस्पोषेण ग्मिषीय ॥[3]

ऋषिः अवत्सारः। देवता अग्निः। छन्दः जगती।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (त्वम्) तू (सूर्यस्य वर्चसा) सूर्य की दीप्ति से (समागथाः) संयुक्त हुआ है, (ऋषीणां स्तुतेन) ऋषिजनों से स्तोत्र से (सम्) संयुक्त हुआ है, (प्रियेण धाम्ना) प्रिय तेज से (सम्) संयुक्त हुआ है। इसी प्रकार (अहम्) मैं भी (आयुषा) दीर्घायुष्य से (सम्) संयुक्त होऊं, (वर्चसा)

---

१. 'एकाश्वयुक्तः शकटः स्थूरिरित्युच्यते, तद्विपरीतो बहुभिरश्वैरुपेतः शकटो ऽस्थूरिः। तेन च संपूर्णता लक्ष्यते। अस्थूरीणि पुत्रपशुधनादिभिः संपूर्णानि भवन्तु।'—सायणः।

२. यजु. ३.१७ ३. यजु. ३.१९

दीप्ति से (सम्) संयुक्त होऊं, (प्रजया) सन्तान से (सम्) संयुक्त होऊं; (रायस्पोषेण) धन की पुष्टि से (सं ग्मिषीय) संयुक्त होऊं।

आनन्द, रक्षा, प्रबोध

अग्ने त्वं सु जागृहि वयं सु मन्दिषीमहि।
रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥[1]

ऋषिः आङ्गिरसः। देवता अग्निः। छन्दः विराड् अनुष्टुप्।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (त्वं) तू (सु जागृहि) शोभनप्रकार से जागृत हो, (वयं) हम यजमान लोग, तेरे द्वारा (सु मन्दिषीमहि) शुभ आनन्द प्राप्त करते रहें। तू (अप्रयुच्छन्) प्रमाद न करता हुआ (नः रक्ष) हमारी रक्षा कर, और (पुनः) पुनः पुनः (नः) हमें (प्रबुधे कृधि) प्रबुद्ध करता रह।

सच्चरित्र, उत्तम आयु, अमृतत्व

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु ॥[2]

ऋषिः वत्सः। देवता अग्निः। छन्दः पूर्वार्द्धस्य साम्नी बृहती, उत्तरार्द्धस्य साम्नी उष्णिक्।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (मा) मुझे (दुश्चरितात्) दुश्चरित्र से (परिबाधस्व) हटा, (मा) मुझे (सुचरिते) सच्चरित्र में (आ भज) संलग्न कर। मैं (आयुषा) दीर्घायुष्य के साथ और (स्वायुषा) स्वस्थ आयु के साथ (अमृतान् अनु) सदेह मुक्ति के आनन्दामृतों को प्राप्त करने के लिए (उदस्थाम्) उद्यम करूं।

मंगल

शिवो भूत्वा मह्यमग्ने अथो सीद शिवस्त्वम्।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥[3]

ऋषिः त्रितः। देवता अग्निः। छन्दः विराड् अनुष्टुप्।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (त्वम्) तू (मह्यं शिवः भूत्वा) इस समय मेरे

१. यजु. ४.१४ २. यजु. ४.२८ ३. यजु. १२.१७

लिए मंगलकारी होकर (अथो) उसके अनन्तर (शिवः सीद) सदा मंगलकारी बना रह। तू (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं को (शिवाः कृत्वा) मंगलकारी बना कर (इह) इस यज्ञशाला में (स्वं योनिम्) अपने निवासस्थान यज्ञकुण्ड में (आ असदः) स्थित हो।

कल्याण, मोक्ष

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम्।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥[1]

ऋषिः विधृतिः। देवता अग्निः। छन्दः भूरिक् पङ्क्तिः।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! तू (देवयतां) देवयज्ञ करना चाहने वालों का (प्रथमः) श्रेष्ठ मार्गदर्शक तथा (देवानाम्) विद्वानों का (उत मर्त्यानाम्) और जनसाधारण का (चक्षुः) प्रकाशक होता हुआ (प्रेहि) यज्ञ में आ। (इयक्षमाणाः) यज्ञ करने के इच्छुक, अतएव (भृगुभिः सजोषाः) परिपक्व विज्ञान वाले ऋत्विजों से प्रीति करने वाले (यजमानाः) यजमान (स्वस्ति) कल्याण को तथा (स्वः) मोक्ष को (यन्तु) प्राप्त करें।

आत्मा, सन्तान, पशु, इहलोक-परलोक, अन्न, दुग्ध, वीर्य

इदं हविः प्रजननं मे अस्तु दशवीरं सर्वगणं स्वस्तये।
आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि।
अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतो अस्मासु धत्त ॥[2]

ऋषिः वैखानसः। देवता अग्निः। छन्दः निचृदष्टिः।

(इदं हविः) यह अग्नि में आहुत हवि (मे) मेरे लिए (प्रजननम् अस्तु) उत्पादक हो, (स्वस्तये) कल्याण के लिए (दशवीरं) दस इन्द्रियरूपी या दस प्राणरूपी वीरों को स्वस्थ रखने वाली तथा (सर्व गणं) सब गणों को अर्थात् समाज के सब वर्णाश्रमियों को स्वस्थ रखने वाली हो। यह हवि (आत्मसनि) आत्मा को देने वाली, (प्रजासनि) उत्तम सन्तान को देने वाली, (पशुसनि) गौ, अश्व आदि पशुओं को देने वाली, (लोकसनि) इहलोक और परलोक को देने वाली और (अभयसनि) निर्भयता के गुण को देने वाली हो। (अग्निः) यज्ञाग्नि (मे प्रजां) मेरी सन्तान को (बहुलां करोतु) समृद्ध करे। हे यज्ञसंचालक

---

१. यजु. १७.६९   २. यजु. १९.४८

ऋत्विजो ! तुम यज्ञ द्वारा (अस्मासु) हममें (अन्नं) अन्न (पयः) दूध और (रेतः) वीर्य (धत्त) प्रदान करो।

प्रबोध, ऐश्वर्य, क्षत्यभाव, यश

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च बोधयैनमुच्च तिष्ठ महते सौभगाय।
मा च रिषदुपसत्ता ते अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु माऽन्ये॥[1]

ऋषिः अग्निः। देवता सामिधेन्यः। छन्दः त्रिष्टुप्।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (सम् इध्यस्व च) तू समिद्ध हो (प्र बोधय च एनम्) और इस यजमान को प्रबुद्ध कर। (महते सौभगाय) महान् ऐश्वर्य प्रदान करने के लिए (उच्च तिष्ठ) उच्च हो (च) और (अग्ने) हे यज्ञाग्नि ! (ते उपसत्ता) तेरे समीप बैठने वाला याज्ञिक (मा रिषत्) हिंसा या क्षति को प्राप्त न करे, (ते ब्रह्माणः) तेरे यज्ञ के ब्रह्मा (यशसः सन्तु) यशस्वी हों (मा अन्ये) अन्य यज्ञ न करने वाले लोग यशस्वी न हों।

१५. अयाज्ञिक की निन्दा

किमत्र दस्रा कृणुथः किमासाथे जनो यः कश्चिदहविर्महीयते।
अति क्रमिष्टं जुरतं पणेरसुं ज्योतिर्विप्राय कृणुतं वचस्यवे॥[2]

ऋषिः अगस्त्यो मैत्रावरुणिः। देवता अश्विनौ। छन्दः जगती।

(दस्रा) हे शत्रु का उपक्षय कर सकने वाले राजा-प्रजाओ ! (अत्र किं कृणुथः) तुम यहां क्या कर रहे हो ? (किम् आसाथे) क्यों चुपचाप बैठे हो ? (यः कश्चित्) जो कोई (अहविः जनः) अग्निहोत्र न करने वाला मनुष्य (महीयते) पूजा पा रहा है, (अतिक्रमिष्ट) उसका पराभव कर दो, (पणेः) उस कृपण के (असुं) प्राण को (जुरतं) नष्ट कर, इसके विपरीत (वचस्यवे विप्राय) यज्ञ में वेदमन्त्रोच्चारण के इच्छुक विद्वान् के लिए (ज्योतिः कृणुतम्) जीवन-प्रकाश उत्पन्न करो।

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः॥[3]

ऋषिः गाथिनो विश्वामित्रः। देवता इन्द्रः। छन्दः त्रिष्टुप्।

---

१. यजु. २७.२ २. ऋग् १.१८२.३ ३. ऋग् ३.५३.१४

हे इन्द्र राजन् ! (ते गावः) तेरी दी हुई गौएं (कीकटेषु) अनार्य प्रदेशों में (किं कृण्वन्ति) क्या करती हैं, क्योंकि वहां के निवासी तो (न आशिरं दुह्रे) न यज्ञार्थ दूध को दुहते हैं, (न घर्मं तपन्ति) न यज्ञकुण्ड को प्रदीप्त करते हैं। हे राजन् ! (प्रमगन्दस्य)[1] अपने स्वार्थ में ही मग्न रहने वाले अयाज्ञिक मनुष्य के (वेदः)[2] धन को (नः आ भर) छीन कर हमें प्रदान कर दे, (मघवन्) हे ऐश्वर्यशालिन् ! (नैचाशाखं)[3] अनूर्ध्वरेता अब्रह्मचारी अयाज्ञिक पुरुष को (नः रन्धय) हमारे वश में कर दे।

न्य॑क्रतून् ग्रथिनो॑ मृध्रवा॑चः प॒णीँर॑श्र॒द्धाँ अ॑वृ॒धाँ अ॑य॒ज्ञान् ।
प्रप्र॒ तान्दस्यूँ॑र॒ग्निर्वि॑वाय॒ पूर्व॑श्चका॒राप॑राँ॒ अय॑ज्यून् ॥[4]

ऋषिः वसिष्ठः । देवता वैश्वानरः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

(अक्रतून्) अकर्मशील, (ग्रथिनः) अज्ञान से बद्ध, (मृध्रवाचः) हिंसक वाणी वाले (पणीन्) कृपण, (अश्रद्धान्) अश्रद्धालु, (अवृधान्) दूसरों को न बढ़ाने वाले, (अयज्ञान्) यज्ञ न करने वाले (तान् दस्यून्) उन दस्यु लोगों को (अग्निः) अग्रणी राजा (प्र प्र विवाय) अत्यन्त दूर कर देता है। (पूर्वः) वह श्रेष्ठ राजा (अयज्यून्) उन अयाज्ञिकों को (अपरान्) सबसे पीछे (चकार) कर देता है, अर्थात् राष्ट्र में आगे नहीं आने देता, न उच्च पदों पर प्रतिष्ठित करता है।

□□

---

१. यास्क (निरु. ६·३२) ने प्रमगन्द का अर्थ अति ब्याजखोरों के कुल में उत्पन्न पुरुष (अत्यन्तकुसीदिकुलीनः) किया है, जो अपना ही स्वार्थ देखता है। दूसरा अर्थ प्रमदक (प्रमादी) किया है, जो परलोक में विश्वास न कर केवल इहलोक को ही मानता है तथा वैसे ही चार्वाक सम्प्रदाय सदृश कर्म करता है।
२. वेदः=धन (निघं. २·१०)।
३. निम्नाभिमुख शाखाओं वाला अनूर्ध्वरेताः अथवा निम्न स्तर का।
४. ऋग् ७.६·३

तृतीय दृश्य

अग्निहोत्र सम्बन्धी विधियों तथा मन्त्रों की व्याख्या

आचमन

विधि—अपने-अपने जलपात्र से सब लोग जो कि यज्ञ करने बैठे हों इन से तीन-तीन आचमन करें अर्थात् एक-एक मन्त्र से एक-एक बार आचमन करें—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ।१। इससे पहला,

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ।२। इससे दूसरा,

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ।३।[1] इससे तीसरा।

(ओम्) मैं परमेश्वर को स्मरण करता हूं। (अमृत) हे अमर परमेश्वर अथवा अमृतस्वरूप जल, तू (उपस्तरणम् असि) नीचे बिछाने की चादर है। (स्वाहा) मैं आचमन द्वारा अपने हृदय में अथवा प्राणाग्नि में तुझे आहुत करता हूं।

---

१. तुलना, अश्व गृह्य. अ. १, कं. २४, सू. १२, २१, २२। वहाँ ओम् और स्वाहा पद नहीं हैं। प्रथम दो मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक प्रपा. १०, अनुवाक ३२,३५ में भी आये हैं। वहाँ प्रथम मन्त्र से भोजन के आदि में तथा द्वितीय मन्त्र से भोजन के अन्त में आचमन करने का विधान है।

(ओम्) मैं परमेश्वर का स्मरण करता हूं। (अमृत) हे परमेश्वर अथवा हे अमृतस्वरूप जल, (अपिधानम् असि) तू ओढ़ने की चादर है। (स्वाहा) मैं आचमन द्वारा अपने हृदय में अथवा अपनी प्राणाग्नि में तुझे आहुत करता हूं।

(ओम्) मैं परमेश्वर को स्मरण करता हूं। (सत्यं) सत्य और (यश:) यश (श्री:) बड़ी अमूल्य सम्पत्ति है। (श्री:) वह सत्य और यश की अमूल्य सम्पत्ति (मयि श्रयताम्) मुझमें स्थित हो। (स्वाहा) यह कैसी उत्तम प्रार्थना है[1] अथवा आचमन द्वारा अपने आत्मा में मैं इस सम्पत्ति को आहुत करता हूं[2]।

जब हम अपने किसी प्यारे शिशु को शीत आदि से सुरक्षित करना चाहते हैं, तब उसके नीचे सुन्दर गद्दा बिछाते हैं, उसे लिटा कर उसके ऊपर मखमली रजाई उढ़ा देते हैं। नीचे बिछाने के गद्दे, चादर आदि को उपस्तरण कहते हैं और ऊपर उढ़ाने की रजाई, चादर आदि को अपिधान। अमृत के दो अर्थ हैं—सदा अमर रहने वाला परमेश्वर और शुद्ध जल। हम जल के एक-एक घूंट से तीन आचमन करते हैं। प्रथम आचमन की घूंट को उपस्तरण (बिछौना) कहा गया है और द्वितीय आचमन की घूंट को अपिधान (ओढ़ने का वस्त्र)। अमृत का अर्थ अमर परमात्मा लें तो वह अमर परमात्मा बिछौना और उढ़ौना होगा। इस बिछौने और उढ़ौने के मध्य में हम किस अमूल्य सम्पत्ति को सुरक्षित करना चाहते हैं, यह तृतीय मन्त्र में बताया गया है। वह अमूल्य सम्पत्ति है सत्य और यश। आचमन की तीसरी घूंट का पान करते हुए हम कहते हैं कि सत्य और यश की अमूल्य सम्पत्ति हमारे अन्दर स्थित हो जाये।

अब देखना यह है कि सत्य और यश की यह अमूल्य सम्पत्ति अमृत अर्थात् परमेश्वर और जल रूप बिछौने एवं उढ़ौने से कैसे सुरक्षित होगी। यदि मनुष्य परमेश्वर को सदा स्मरण रखे तब निस्सन्देह वह सत्य का मन, वचन और कर्म से पालन करेगा। परिणामत: वह यशस्वी होगा। अत: आलंकारिक भाषा में यह कहा जा सकता है कि परमात्मा रूपी बिछौने और उढ़ौने के मध्य में रख कर हमें सत्य और यश की रक्षा करनी है। अमृत का अर्थ जल लें, जैसा कि जल का आचमन हम कर ही रहे हैं, तो जल भी सत्य और यश की सुरक्षा करने वाले हैं। जल सत्य के प्रतीक हैं, वेद में जल का नाम ही

---

१. स्वाहा = सु + आह। स्वाहा इत्येतत् सु आह इति वा (निरु. ८.२०)।
२. स्वाहा = सु + आ + हु। स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा (निरु. ८.२०)।

सत्य है।[१] जल का आचमन करते हुए हम यह भावना जागृत करते हैं कि जैसे पवित्र जल सत्यमय और अपने गुणों के कारण यशस्वी हैं, वैसे ही हम भी सत्यमय और यशस्वी हों। जल का आचमन करते हुए हम सत्यमय और यशस्वी होने का व्रत लेते हैं। शतपथ ब्राह्मण में आचमन का महत्त्व बताते हुए कहा है कि मनुष्य जो असत्य भाषण करता है उसके कारण वह अपवित्र होता है, जल पवित्र है, जलों का आचमन करके वह व्रत ग्रहण करता है कि मैं पवित्र बनूंगा—

तद् यद् अप उपस्पृशति, अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरतो, मेध्या वा आपो, मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति। पवित्रं वा आपः पवित्रपूतो व्रतमुपाया-नीति। तस्माद् वा अप उपस्पृशति।[२]

आगे सत्य का महत्त्व बताते हुए लिखा है कि जनसाधारण असत्य का आचरण करते हैं, किन्तु देवजन सत्याचारी होते हैं। जो मनुष्य सत्य का व्रत ग्रहण कर लेता है, वह मनुष्यकोटि से देवकोटि में आ जाता है—

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति, सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवाः अनृतं मनुष्याः। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति।[३]

अग्निहोत्र के प्रारंभ में जो आचमन द्वारा सत्य और यश को जीवन में लाने का व्रत ग्रहण करते हैं, उसका बड़ा महत्त्व है। वेद ने सत्य और यश की बहुत महिमा गायी है। ऋग्वेद कहता है कि सत्य से ही भूमि टिकी हुई है— **सत्येनोत्तभिता भूमिः**[४] सत्य की नौकाएं सुकर्मकर्ता को पार लगा देती हैं—**सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्**[५] सत्य का रक्षक सुकर्मा मनुष्य किसी से हिंसित नहीं होता—**ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुः**[६] सत्य की जिह्वा प्रिय मधु बरसाती है—**ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियम्**[७]

---

१. द्रष्टव्य निघ. १·१२। २. शत. १·१·१·१
३. शत. १·१·१·४ ४. ऋग्. १०·८५·१ ५. ऋग्. ९·७३·१
६. ऋग्. ९·७३·८ ७. ऋग्. ९·७५·२

अतएव प्रजापति परमेश्वर ने अनृत और सत्य दोनों के रूपों को देखकर यह शिक्षा दी है कि मनुष्य अनृत में अश्रद्धा और सत्य में श्रद्धा करे—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥[1]

इसीलिए वैदिक स्तोता अपने प्रभु से प्रार्थना करता है कि तू हमें सत्य के मार्ग से ले चल—**ऋतस्य नः पथा नय**[2] इसीलिए वह सत्य का व्रत ग्रहण करता हुआ कहता है—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥[3]

"हे सबके मार्गदर्शक व्रतपति प्रभो ! मैं आज व्रत ग्रहण करूंगा। ऐसी कृपा करो कि उसका मैं पालन कर सकूं, वह मेरा व्रत सिद्ध और सफल हो। वह व्रत यह है कि मैं आज से असत्य को छोड़ कर सत्य को अपनाता हूं।"

सचमुच सत्य की बड़ी महिमा है। एक कथा प्रसिद्ध है। किसी सेठ का पुत्र बड़ा दुराचारी था, सब अवगुण और कुकर्म उसमें विद्यमान थे। उसके कारण सात्त्विकवृत्ति सेठ का भी अपयश हो रहा था। सेठ अपने पुत्र की करनी से परेशान होकर एक महात्मा की शरण में पहुंचा। महात्मा ने उसके पुत्र से कहा कि भले ही तुम सब कुकर्म करते रहो, किन्तु मेरी एक बात मान लो कि सदा सत्य बोलो। पुत्र ने सत्य बोलने की प्रतिज्ञा कर ली। अब जब कभी वह कोई निन्दनीय कर्म करके आता तब पूछने पर उसे सत्य-सत्य कहना पड़ता। शनैः शनैः लोकलाज के कारण उसके सब दुर्गुण छूट गये। जब वाणी से सत्य भाषा की इतनी महिमा है, तब मन, वचन, कर्म तीनों से सत्य को ग्रहण करना कितना फलदायक होगा, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है।

आचमन-मन्त्र में सत्य के साथ दूसरी मूल्यवान् वस्तु यश कही गयी है। यश वस्तुतः सत्याचरण का ही परिणाम है। जब मनुष्य सत्य को अपना लेगा तब उसके आदर्श व्यक्तित्व से यश की किरणें स्वतः प्रसूत होने लगेंगी। वेद ने यशस्वी जीवन को बहुत ही स्पृहणीय माना है। वेद का स्तोता यशोमय जीवन की प्रार्थना करता हुआ कहता है—

१. यजु. १९.७७ २. ऋग्. १०.१३३.६ ३. यजु. १.५

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥[1]

"जैसे सूर्य द्यावापृथिवी में यशस्वी है, जैसे जल औषधियों में यशस्वी है, वैसे ही सब विद्वानों में और सर्वसाधारण में हम यशस्वी हों। जैसे सूर्य यशस्वी है, जैसे अग्नि यशस्वी है, जैसे चन्द्रमा यशस्वी है, वैसे ही मैं सब उत्पन्न जड़-चेतन में सबसे अधिक यशस्वी बनूं।"

आइये, हम भी आचमन करते हुए सत्यमय और यशस्वी होने का व्रत ग्रहण करें।

अंगस्पर्श

आचमन के पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से बायीं हथेली में जल लेकर दाहिने हाथ से अंगों का स्पर्श करें—

ओं वाङ् म आस्येऽस्तु ।१। इस मन्त्र से मुख,

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु ।२। इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र,

ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ।३। इस मन्त्र से दोनों आंखें,

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ।४। इस मन्त्र से दोनों कान,

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ।५। इस मन्त्र से दोनों बाहु,

ओम् ऊर्वोर्म ओजोऽस्तु ।६। इस मन्त्र से दोनों जंघा, और

---

१. अथर्व. ६.५८.२,३

ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ।७।[1]

इससे सब अङ्गों पर जल स्पर्श करके मार्जन करना ।

प्रथम मन्त्र

(ओम्) हे परमेश्वर ! (मे आस्ये) मेरे मुख में (वाक् अस्तु) प्रशस्त वाणी हो ।

अभिप्राय यह है कि आजीवन मुख में वाणी की शक्ति बनी रहे और वह वाणी उत्कृष्ट हो । वाणी के हीन कोटि का होने पर बड़े-बड़े दुष्परिणाम हो सकते हैं । महाभारत का युद्ध "अन्धे के पुत्र अन्धे ही होते हैं" इस कटु वाणी का ही परिणाम था । इसके विपरीत वाणी शुभ होने पर शत्रु भी मित्र बन जाते हैं । अतएव अथर्ववेद का स्तोता प्रार्थना करता है—

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता ।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ।।[2]

अर्थात् जिस वाणी के अदिव्य होने पर बड़े घोर परिणाम सामने आते हैं, वह हमारी वाणी दिव्य होकर ब्रह्म के ध्यान से तथा ज्ञान से प्रभावयुक्त एवं सर्वोत्कृष्ट होकर हमें सुख-शान्ति देने वाली हो ।

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् ।
मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम् ।।[2]

अर्थात् हमारी वाणी दुर्गति से निकल कर सशक्त और मधुमयी हो । जलों को सम्बोधन कर कहा है कि हे जलो ! जैसे तुम मधुर हो, वैसे ही मैं मधुर वाणी बोलूं ।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ।।[3]

मेरी जिह्वा के अग्र में मधु हो, जिह्वा के मूल में मधु भरा महुए का फूल हो । मैं वाणी से मधुर बोलूं, मैं शहद के समान हो जाऊं ।

---

१. द्रष्टव्य : पारस्कर गृह्यसूत्र १·३·२५ "आचम्य प्राणान् संमृशति वाङ्म आस्ये नसोः प्राणोऽक्ष्णोश्चक्षुः कर्णयोः श्रोत्रं बाह्वोर्बलमूर्वोरोजोऽरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सहेति ।"
तुलना : तैत्तिरीय आरण्यक ७·७३ "वाङ्म आसन् । नसोः प्राणः । अक्ष्योश्चक्षुः । कर्णयोः श्रोत्रम् । बाह्वोर्बलम् । ऊर्वोरोजः । अरिष्टा विश्वान्यङ्गानि तनूः । तनुर्वा में सह नमस्ते अस्तु मा मा हिँसीः, इति ।"

२. अथर्व. १९·९·३ २. अथर्व. १६·२·१,२ ३. अथर्व १.३४.२,३

इस प्रकार अंगस्पर्श के प्रथम मन्त्र द्वारा वाणी के आजीवन अविनष्ट, स्थिर, प्रशस्त, प्रभावमयी, बलवती एवं मधुर होने की प्रार्थना की गयी है।

द्वितीय मन्त्र

(ओम्) हे परमेश्वर ! (मे नसोः) मेरे नासिका-छिद्रों में (प्राणः अस्तु) प्राण हो।

प्राण से दो तात्पर्य हैं—घ्राण-शक्ति (सूंघने की क्षमता) बने रहना और नासिका-छिद्रों से प्राणापान के रूप में प्राण का आवागमन अविघ्नित रूप से होते रहना। कई मनुष्यों की सूंघने की शक्ति का ह्रास हो जाता है, उन्हें सुगन्ध या दुर्गन्ध दोनों एक सी प्रतीत होती हैं, ऐसा न हो। इसी प्रकार नाक की हड्डी या कार्टिलेज बढ़ जाने के कारण प्राणापान के आवागमन में कई व्यक्तियों को कष्ट होता है, ऐसा भी न हो। इसके विपरीत शुद्ध वायु का नासिकाद्वार से अन्दर जाना तथा फेफड़ों की रक्त-शिराओं में से रक्त की मलिनता लेकर शरीर की अशुद्ध वायु का नासिकाद्वार से बाहर निकलना—ये दोनों कार्य अप्रतिहत रूप में निरन्तर होते रहें, जिससे शरीर का स्वास्थ्य बना रहे। अतएव वेद में कहा है—मेरे अन्दर सहस्र प्राण-शक्तियां आ बसें, **"सहस्रं प्राणा मय्यायतन्ताम्"**[1] मुझे प्राणशक्ति न छोड़ें, न ही अपानशक्ति छोड़ कर जाये— **"मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात्"**[2] हे प्राणापानो तुम मुझे मत छोड़ो— **प्राणापानौ मा मा हासिष्टम्।**[3]

तृतीय मन्त्र

(ओम्) हे परमेश्वर ! (मे अक्ष्णोः) मेरे नेत्रों में (चक्षुः अस्तु) दृष्टि-शक्ति और भद्र-दृष्टि हो।

हमारी आंखों की ज्योति कभी मन्द न हो, अपितु गरुड़ जैसी तीव्र दृष्टि-शक्ति हमारी आंखों में हो—**सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः**[4] यदि कभी दृष्टि मन्द हो भी जाये तो सूर्य, जल, वायु आदि की चिकित्सा से हम पुनः तीव्र दृष्टि प्राप्त कर लें—

---

१. अथर्व. १७.१.३० २. अथर्व. १६.४.३
३. अथर्व. १६.४.५ ४. अथर्व १६.२.५

चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः ।
चक्षुर्धाता दधातु नः ॥
चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः ।
सं चेदं वि च पश्येम ॥
सुसन्दृशं त्वा वयं प्रति पश्येम सूर्य ।
वि पश्येम नृचक्षसः ॥[1]

"प्रातः कालीन प्रकाशक सूर्य (सविता देवः) हमें चक्षुःशक्ति प्रदान करे। मेघ (पर्वतः) हमें चक्षुःशक्ति प्रदान करे। वायु (धाता) हमें चक्षुःशक्ति प्रदान करे। हे परमेश्वर अथवा हे सूर्य ! तू हमारे चक्षु को दृष्टि-शक्ति प्रदान कर, सब शरीरों (शरीरधारियों) को दृष्टि-शक्ति प्रदान कर, जिससे वे सब पदार्थों को विशिष्ट रूप से देख सकें। हमारी दृष्टि-शक्ति ऐसी हो कि हम वस्तुओं को समष्टि की स्थिति और व्यष्टि की स्थिति दोनों रूपों में देख सकें। हे सूर्य! जब तू आसानी से दर्शनीय होता है उस समय हम तेरी ओर देखें, सूर्यचिकित्सा करें, जिससे मनुष्यों में विशेषदृष्टिसम्पन्न होकर प्रत्येक पदार्थ को पृथक्-पृथक् देखने में समर्थ हों।"

परन्तु अंगस्पर्श के मन्त्र में 'चक्षु' से अभिप्राय केवल दृष्टिशक्ति की तीव्रता ही नहीं है, शुभदृष्टि तथा सबको मित्रताभरी और प्रेमभरी दृष्टि से देखना भी अभिप्रेत है। इसीलिए वेद कहता है कि हम आंखों से भद्र ही देखें

"भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः"[2]

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥[3]

"हे सर्वदोषविदारक परमेश्वर ! मुझे दृढ़ता प्रदान करो। सब प्राणी मुझे मित्र की आँख से देखें। मैं भी सब प्राणियों को मित्र की आंख से देखता हूं। इस प्रकार हम सब राष्ट्रवासी या विश्व के वासी एक-दूसरे को मित्र की आंख से देखा करें।"

---

१. ऋग्. १०.१५८.३-५ २. ऋग्. १.८९.८ ३. यजु. ३६.१८

चतुर्थ मन्त्र

(ओम्) हे परमेश्वर ! (मे कर्णयोः) मेरे कानों में (श्रोत्रम् अस्तु) श्रवण-शक्ति तथा भद्र श्रवण हो ।

आजीवन हमारी श्रवण-शक्ति अक्षुण्ण तथा तीव्र रहनी चाहिए । हम श्रवणशक्ति से सर्वथा वंचित होकर बधिर न हो जायें, न ही हमारी श्रवण-शक्ति मन्द हो, हमें सुनने के लिए श्रवणायन्त्र न लगाना पड़े । साथ ही कान हमें परमेश्वर की ओर से भद्र श्रवण के लिए ही मिले हैं, अभद्र बातें सुनने के के लिए नहीं । अतः कानों से हम भद्र का ही श्रवण करें—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः ।[1]

सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ।
सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टाम् ॥[2]

"मेरे कान खूब अच्छा सुनने वाले हों, मेरे कान भद्र का श्रवण करने वाले हों । मैं भद्र स्तोत्र को सुनूं । तीव्र श्रवणशक्ति और सूक्ष्म श्रवणशक्ति मुझे न छोड़ें ।"

पंचम मन्त्र

(ओम्) हे परमेश्वर !,(मे बाह्वोः) मेरी भुजाओं में (बलम् अस्तु) बल हो ।[3]

संसार में आत्म-रक्षा के लिए और आततायी शत्रु के विनाश के लिए भुज-बल की आवश्यकता है । अतएव वेद विजय के लिए प्रेरित करता हुआ कहता है—

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥[4]

---

१. ऋग्. १.८९.८ २. अथर्व १६.२.४,५

३. तुलनीय : बलं धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानळुत्सु नः ।
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि ॥
ऋग्. ३.५३.१८

४. ऋग्. १०.१०३.१३

"हे वीरो ! आगे बढ़ो, विजय प्राप्त करो, वीर प्रभु तुम्हें रक्षा प्रदान करें। तुम्हारी भुजाओं में बल हो, जिससे तुम किसी से पराजित न हो सको।"

षष्ठ मन्त्र

(ओम्) हे परमेश्वर ! (मे ऊर्वोः) मेरी जांघों में (ओजः अस्तु) अवष्टम्भ सामर्थ्य[1] अर्थात् शरीर को धारण करने की शक्ति हो।

जाँघें दुर्बल होने पर वे अपने से ऊपरके भारी शरीर को धारण नहीं कर सकतीं, ठीक वैसे ही जैसे भवन के स्तम्भ यदि कमजोर हों तो भवन स्थिर नहीं रह सकता। जांघों को यहां पैर से लेकर कटि-सन्धि तक सम्पूर्ण टांगों का उपलक्षण समझना चाहिए। टाँगें धारक शक्ति से युक्त होंगी, तभी मनुष्य लम्बे मार्ग को तय करना, दौड़ना-भागना, भार उठाना आदि क्रियाओं को कर सकेगा।

सप्तम मन्त्र

(मे अंगानि) मेरे शरीर के अंग-प्रत्यंग और (तनूः) शरीर (अरिष्टानि) अविनष्ट और अक्षत रहें। वे अंग (मे तन्वा सह) मेरे शरीर के साथ (सन्तु) स्वस्थ रूप में विद्यमान रहें।

शरीर के कतिपय प्रमुख अंगों मुख, नासिका, चक्षु आदि का उल्लेख तथा उनकी शक्तियों के अक्षुण्ण बने रहने की प्रार्थना प्रथम छह मन्त्रों में की जा चुकी है। इस मन्त्र में सामान्य रूप से सभी अंगों का ग्रहण हो जाता है, जिसमें अवशिष्ट अंग भी आ जाते हैं। हमारे शरीर का कोई अंग जन्म से मृत्यु पर्यन्त हिंसित या क्षतिग्रस्त न हो, हमारे हाथ, पैर, अंगुलियाँ, मस्तिष्क, हृदय, फुप्फुस, पृष्ठवंश आदि सब सदा ठीक प्रकार से कार्य करते रहें, यह भावना इस मन्त्र से गृहीत की जाती है। अन्त में कहा है कि जब तक शरीर रहे तब तक सब अंग स्वस्थ बने रहें। ऐसा न हो कि शरीर तो शतायु या सौ से भी अधिक आयु का हो जाये, किन्तु अंग शनैः-शनैः दुर्बल होते जायें और वृद्धावस्था में मनुष्य पराश्रित हो जाये। दीर्घ आयु तो वह श्रेष्ठ है, जिसमें अन्त तक सब शरीर अपने अंग-प्रत्यंगों सहित स्वस्थ रहे।

---

१. मेदिनी कोश में ओजस् के दीप्ति, अवष्टम्भ-सामर्थ्य, प्रकाश और बल अर्थ कहे हैं—ओजो दीप्ताववष्टम्भे प्रकाशबलयोरपि। मेदिनी ३२.२०

अंगस्पर्श जल से क्यों ?

पवित्र जल से मुख, नासिका, चक्षु आदि अंगों के स्पर्श की विधि यहाँ है। वेद में जलों को शारीरिक दोषों और मानसिक पापों का अपहर्ता कहा गया है। जलों में अमृत है, जलों में औषध है—**अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्**[1] जल औषध है, जल रोगविनाशक है—**आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः**[2] हे जलो ! जो मेरे शरीर में दोष और मल है, उसे बहा ले जाओ—**इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत्**[3] जल दोष और पाप को दूर करने वाले हैं, हमसे दोष और पाप दूर हो जायें—**अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत्**[4] जल हमसे पाप को दूर करें, दुःस्वप्न के भयंकर परिणाम को दूर करें—**प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु**[5]। अतएव जलों से अंगस्पर्श करते हुए हम अनागत इन्द्रियविकारों से दूर रहने का तथा आगत इन्द्रिय-विकारों के शमन का संकल्प लेते हैं। जलस्पर्श की विधि इसका प्रतीक है कि आवश्यकता पड़ने पर हम जलों का उपयोग कर शारीरिक और मानसिक दोषों से मुक्त होते रहेंगे।

अंगस्पर्श का वैदिक मन्त्र

उपर्युक्त अंगस्पर्श के मन्त्र पारस्कर गृह्यसूत्र के पूर्वोद्धृत सूत्र में 'ओम्' 'मे', 'अस्तु', 'सन्तु' शब्दों को बढ़ा कर पठित किये गये हैं। पारस्कर के टीकाकार आचार्य कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर एवं विश्वनाथ द्वारा यह परिवर्धन अनुमोदित है।[6] पारस्कर के उक्त सूत्र का वैदिक मूल यह मन्त्र है—

वाङ्म आसन् नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः ॥[7]

---

१. अथर्व. १.४.४
२. अथर्व. ३.७.५
३. अथर्व. ७.८९.३
४. अथर्व. १६.१.१०
५. अथर्व. १६.१.११
६. द्रष्टव्य पूर्वोक्त सूत्र १.३.२५ पर इन आचार्यों की टीका।
७. अथर्व., १९.६०.१,२

अग्न्याधान

विधि—

ओं भूर्भुवः स्वः ।[1]

इस मन्त्र का उच्चारण करके ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला अथवा घृत का दीपक जला उससे कपूर में लगा, किसी एक पात्र में धर, उसमें छोटी-छोटी लकड़ी लगा के यजमान वा पुरोहित उस पात्र को दोनों हाथ से उठा, यदि गर्म हो तो चिमटे से पकड़ कर अगले मन्त्र से अग्न्याधान करे ।

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥[2]

इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को रखे ।

भूः, भुवः, स्वः ये तीन महाव्याहृति हैं । इनसे पूर्व ओम् का उच्चारण करते हैं । ओम् परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम है । अध्यात्मपक्ष में भूः, भुवः, स्वः भी परमात्मा के वाचक हैं । 'भू सत्तायाम्' धातु से भूः की सिद्धि होने से भूः का अर्थ है सत्स्वरूप । 'भुवो अवकल्कने, अवकल्कनं चिन्तनम्' धातु से 'भुवस्' बनता है, अतः भुवः का अर्थ है चित्स्वरूप । 'स्वः' आनन्द-वाचक है; अतः इसका अर्थ आनन्दस्वरूप होता है । इस प्रकार अग्न्याधान से पूर्व हम सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर को स्मरण करते हैं । भूः, भुवः, स्वः का अर्थ उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का करने वाला परमेश्वर भी हो सकता है ।[3] भूः, भुवः, स्वः को त्रयी विद्या का सार माना जाता है । छान्दोग्य उपनिषद् में निम्न आलंकारिक वर्णन आता है—प्रजापति ने लोकों को तपाया, उन अभितप्त हुए लोकों से त्रयीविद्या चू पड़ी । उस त्रयी विद्या को तपाया, उस अभितप्त हुई त्रयी विद्या से भूः, भुवः, स्वः ये अक्षर चू पड़े । उन्हें भी तपाया,

---

१. द्रष्टव्यः भूर्भुवः स्वरित्यभिमुखमग्निं प्रणयन्ति । गोभिल गृह्यसूत्र १.१.११
२. यजु. ३.५.
३. भवन्ति जायन्ते यस्मात् सर्वे लोकाः स भूः । भवन्ति तिष्ठन्ति यस्मिन् यस्याश्रये वा सर्वे लोकाः स भुवः । भूरञ्जिभ्यां कित्, उ० ४,२१८ । सु सम्यग् ईरयति गमयति प्रलयदशां सर्वान् लोकान् यः स स्वः ।

उन अभितप्त हुए भूः, भुवः, स्वः अक्षरों से ओंकार चू पड़ा।[1]

गोपथ ब्राह्मण में भी ऐसी ही कथा है। तप करके परमेश्वर ने पैरों से पृथिवी को, उदर से अन्तरिक्ष को और मूर्धा से द्यौ को निर्मित किया। इन तीनों लोकों को तपाया, उनसे तीन देव उत्पन्न हुए—अग्नि, वायु और आदित्य। तीनों देवों को तपाया, उनसे तीन वेद निकले—ऋग्, यजुः, साम। तीनों वेदों को तपाया; उनसे तीन महाव्याहृतियों का निर्माण किया—भूः, भुवः, स्वः। अन्त में कहा है कि जो यह चाहे कि मैं तीनों वेदों से कोई विधि करूं, वह इन महाव्याहृतियों से ही उस विधि को करले। उसकी वह विधि तीनों वेदों से ही कृत हो जाती है।[2]

ओंकारपूर्वक भूः, भुवः, स्वः से किसी विधि को करने का अत्यधिक महत्त्व है। इसके अतिरिक्त ये व्याहृतियां क्रमशः भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोकों की भी वाचक हैं।[3] अग्न्याधान करने से पूर्व इन लोकों को भी स्मरण करना उपयोगी है, क्योंकि इन तीनों ही लोकों में अग्नि का वास है, पृथिवी पर पार्थिव अग्नि के रूप में, अन्तरिक्ष में विद्युत् के रूप में तथा द्यौ में सूर्य के रूप में।

शतपथ ब्राह्मण में 'भूर्भुवः स्वः' पूर्वक आहवनीय अग्नि के आधान का विधान करते हुए इनका सम्बन्ध क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, ब्रह्म-क्षत्र-विट् तथा आत्मा-प्रजा-पशुओं से बताया गया है।[4] तैत्तिरीय आरण्यक एवं तैत्तिरीय उपनिषद् में इन्हें क्रमशः भूलोक-अन्तरिक्षलोक-द्युलोक, अग्नि-वायु-आदित्य, ऋक्-साम-यजुः और प्राण-अपान-व्यान का वाचक कहा है।[5] वहां इनके द्वारा विधि करने का फल यह बताया है कि भूः के द्वारा

---

१. प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्। तामभ्यतपत्, तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति। तान्यभ्यतपत्, तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः संप्रास्रवत्। छा. उः २.२३.२,३
तुलना : अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च॥ मनु. २.७६

२. गो. पू.; १.६

३. भूरिति वा अयं लोको, भुव इत्यन्तरिक्षलोकः, स्वरित्यसौ लोकः। शत. ८.७.४.५

४. शत. २.१.४.१०-१४

५. तै. आ. ७.५.१-३, तै. उ. शिक्षा. ५.१-४

अग्नि में, भुवः के द्वारा वायु में और सुवः के द्वारा आदित्य में प्रतिष्ठित हो जाता है अर्थात् इन-इन के ऐश्वर्य का अधिकारी हो जाता है। इनका ध्यान करने वाला आत्मराज्य को और मनसस्पति को प्राप्त कर लेता है। वह वाक्पति, चक्षुष्पति, श्रोत्रपति हो जाता है।[1] अध्यात्म में भूः, भुवः, स्वः का सम्बन्ध वाक्, चक्षु और श्रोत्र से भी है, क्योंकि इनमें भी अपने-अपने प्रकार की अग्नियों का वास है।

अग्न्याधान-मन्त्र का अर्थ—(ओम्) मैं परमेश्वर का ध्यान करता हूँ। (भूः भुवः स्वः) पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोकों का ध्यान करता हूँ। मैं (भूम्ना[2]) बाहुल्य से (द्यौः इव) द्युलोक के समान हो जाऊं, (वरिम्णा[3]) विस्तार में (पृथिवी इव) भूमि के समान हो जाऊं। (देवयजनि[4] पृथिवि) हे देवयज्ञ की आश्रयस्थली भूमि ! (तस्याः ते पृष्ठे) उस तुझ भूमि के पृष्ठ पर (अन्नादम्[5] अग्निम्) हव्य अन्न का भक्षण करने वाले यज्ञाग्नि को (अन्नाद्याय[6]) भक्षणीय अन्न की प्राप्ति के लिए अथवा अन्न के भक्षण का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए (आ दधे) आधान करता हूँ।

यज्ञकर्ता प्रथम परमेश्वर का ध्यान करता है। फिर वह तीनों लोकों पर दृष्टि डालता है और देखता है कि जिस अग्नि का वह यज्ञकुण्ड में आधान करने लगा है, वह अग्नि क्रमशः पार्थिव अग्नि, आकाशीय विद्युदग्नि एवं सूर्याग्नि के रूप में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ तीनों लोकों में विद्यमान तथा परमोपयोगी है। द्यावापृथिवी का ध्यान करते हुए वह कहता है कि जैसे द्युलोक में नाना नक्षत्र और असंख्य सूर्यकिरणें आदि हैं, वैसे ही मेरे अन्दर भी अनेक सद्गुणरूप नक्षत्र एवं दिव्य अन्तःप्रकाश की किरणें उत्पन्न हो

---

१. भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः एतत् ततो भवति। तै. आ. ७.६.१, २ तै. उ. शिक्षा. ६.१, २
२. बहोर्भावः भूमा तेन भूम्ना। बहोर्लोपो भू च बहोः पा. ६.४.१५८।
३. उरोर्भावः वरिमा तेन वरिम्णा। प्रियस्थिरस्फिरोरु, पा. ६.४.१५७ इत्युरोर्वरादेशः।
४. देवा इज्यन्ते यस्यां सा देवयजनी तत्सम्बुद्धौ।
५. अन्नादम् अन्नमत्तीति अन्नात् अन्नादो वा तम्।
६. अन्नाद्याय अन्नं च तद् अद्यं चेति अन्नाद्यम्: आहिताग्न्यादित्वात् परनिपातः पा. २.२.३६। यद् वा अन्नस्य आद्याय भक्षणाय भक्षणसामर्थ्याय।

जायें। इसी प्रकार जैसे पृथिवी विस्तीर्ण है, वैसे ही मेरे आत्मा का भी विस्तार हो और मेरे अन्दर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना जागरित हो। फिर यजमान पृथिवी को सम्बोधन कर कहता है कि तुम देवयजनी हो, तुम्हारे पृष्ठ पर सदा ही देवयज्ञ या अग्निहोत्र होते रहे हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। अतः मैं भी तुम्हारे पृष्ठ पर इस यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान करता हूँ। हे अग्ने! जैसे तुम आहुत किये हुए अन्न को खा लेते हो, वैसे ही मेरे अन्दर अन्न को खाने का और उसे पचा लेने का सामर्थ्य प्रदान करो। अग्निहोत्र के औषधमय धूम से मेरी जाठराग्नि को तीव्र कर दो। 'अन्नाद्य' का दूसरा अर्थ लें तो भक्षणीय अन्न की प्राप्ति के लिए के लिए हे यज्ञाग्ने! मैं तुम्हारा आधान करता हूँ, क्योंकि तुम में डाली हुई आहुति आकाश में मेघमण्डल उत्पन्न कर वृष्टि द्वारा अन्नोत्पत्ति में कारण बनेगी।

अग्नौ प्रास्ताहुतिःसम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥[1]

अग्निप्रदीपन

विधि—वेदी के बीच में आधान की गयी अग्नि पर छोटे-छोटे काष्ठ और थोड़ा कपूर धर, अगला मन्त्र पढ़ के व्यजन से अग्नि को प्रदीप्त करे।

ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥[2]

(ओम्) ओम् के उच्चारण के साथ अग्निप्रदीपन करता हूँ। (अग्ने) हे अग्नि! (उद्बुध्यस्व) उद्बुद्ध हो, (प्रतिजागृहि) जाग अर्थात् उन्नत ज्वालाओं वाला हो जा। (त्वम्) तू (अयं च) और यह यजमान (इष्टापूर्ते) इष्ट और पूर्त कर्मों को (संसृजेथाम्) रचाओ। (अस्मिन्) इस (उत्तरस्मिन्' सधस्थे अधि) उत्कृष्ट यज्ञमण्डप में (विश्वे देवाः) हे सब विद्वानो! तुम (यजमानः च) और यह यजमान (सीदत) बैठो।

पूर्व मन्त्र से यज्ञ-वेदी में अग्नि का आधान किया गया था। अब पंखे से हवा करते हुए कहते हैं कि हे अग्नि! तू ऊद्बुद्ध हो, जाग, ऊर्ध्वज्वाल हो। पुरोहित कहता है कि हे अग्नि! तू और यह यजमान मिल कर इष्ट और पूर्त को रचाओ। यज्ञयागादि श्रौत कर्म 'इष्ट' और वापी, कूप, तड़ाग,

१. मनु. ३.७६
२. यजु. १५.५४; १८.६१

देवमन्दिर (सार्वजनिक पूजागृह या यज्ञशाला) का निर्माण, गरीबों के लिए अन्न के भण्डारे खोलना, बगीचे लगाना आदि स्मार्त कर्म 'पूर्त' कहलाते हैं।[१] ये सब कर्म अग्निहोत्रपूर्वक किये जाते हैं, अतः अग्नि और यजमान मिल कर ही इन कर्मों को करेंगे। 'इष्ट' शब्द देवपूजासंगतिकरणदानार्थक 'यज' धातु से और 'पूर्त' शब्द पालन-पूरणार्थक 'पृ' धातु से निष्पन्न होते हैं। प्रस्तुत मन्त्र[२] के भाष्य में स्वामी दयानन्द ने इष्ट का अर्थ अभीष्ट सुख, विद्वानों का सत्कार, ईश्वर का आराधन, संगतिकरण और सत्यविद्यादिदान तथा पूर्त का अर्थ पूर्ण बल, ब्रह्मचर्य, विद्यालंकरण, पूर्ण यौवन और पूर्ण साधन-उपसाधन की प्राप्ति किया है।[३] यजमान को नित्य अग्निहोत्र करते हुए इष्टापूर्त से सूचित इन समस्त कर्मों का भी पालन करना है।

फिर पुरोहित सब देवों को सम्बोधित कर कहता है कि तुम और यह यजमान इस उत्तर सधस्थ में आकर बैठो। 'देवाः' का अर्थ है दिव्य गुणों वाले विद्वान्-जन **विद्वांसो हि देवाः**[४] 'सधस्थ' का अर्थ है, जिसमें एक-साथ मिल कर बैठा जाये वह यज्ञगृह, मण्डप आदि।[५] मन्त्र में 'सधस्थे' का विशेषण 'उत्तरस्मिन्' दिया है, जिससे सूचित होता है कि यज्ञगृह उत्कृष्ट कोटि का होना चाहिए। साथ ही 'देवाः' के साथ 'विश्वे' विशेषण यह सूचित करता है कि जिस परिवार, संस्था, समाज आदि में अग्निहोत्र हो रहा हो यथासंभव उसके सभी सदस्यों को उसमें सम्मिलित होना चाहिए।

समिदाधान

विधि—जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे, तब चन्दन की अथवा

---

१. इष्टापूर्ते श्रौतस्मार्ते कर्मणी—महीधर। इष्टं श्रुतिविहितं यागादि, पूर्तं स्मृत्युक्तं कूपारामतटाकादि—सायण, अथर्व २.१२.४ का भाष्य। इष्टापूर्ते इष्टं श्रौतं कर्म च, पूर्तं स्मार्तं कर्म च ते—दयानन्दभाष्य, यजु. १८.६०।

२. यजु. १५.५४

३. इष्टापूर्ते इष्टं सुखं विद्वत्सत्करणम् ईश्वराराधनं सत्सङ्गतिकरणं सत्यविद्यादिदानं च, पूर्तं पूर्णं बलं ब्रह्मचर्यविद्यालङ्करणं पूर्णयौवनं पूर्णं साधनोपसाधनं च ते।

४. शत. ३.७.३.१०

५. सधस्थे सहस्थाने (निरु. ३.१५)। सहोपपदात् स्थाधातोः कः। सधमादस्थयोश्छन्दसि (पा. ६.३.९६) इति सहस्य सधादेशः। सह तिष्ठन्ति जना यत्र स सधस्थः यज्ञगृहादिकम्।

पलाश आदि[1] की तीन लकड़ी आठ-आठ अंगुल की घृत में डुबा, उसमें से एक-एक निकाल नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा को अग्नि में चढ़ावें। वे मन्त्र ये हैं—

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा। इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम॥[2]

—इस मन्त्र से प्रथम।

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा॥ इदमग्नये इदं न मम॥[3]

ओं सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम॥[4]

—इन दोनों मन्त्रों से दूसरी।

ओं तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठय स्वाहा॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे—इदं न मम॥[5]

—इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवें।

---

१. यज्ञसमिधा—पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आंब, (आम), बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी-छोटी कटवा लेवें। परन्तु ये समिधा कीड़ा लगी, मलिनदेशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों। सं. वि. सामान्यप्रकरण।

२. द्रष्टव्य: आश्व. गृ. सू. १. १०. १२—शृतानि हवींष्यभिघार्योदगुद्वास्य बर्हिष्यासाद्येध्ममभिघार्य "अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा।" इति।

३. यजु. ३.१। "ओं, स्वाहा, इदमग्नये-इदं न मम" अध्याहृत हैं।

४. यजु. ३.२। ओं, स्वाहा आदि अध्याहृत।

५. यजु. ३.३। ओं, स्वाहा आदि अध्याहृत।

प्रथम समिधा

(ओम्) ओम् का उच्चारण करता हूँ। (जातवेद:[1]) हे सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान तथा उत्पन्न पदार्थों के प्रकाशक अग्नि! (अयम् इध्म:[2]) यह समिधा (ते आत्मा) तेरा जीवन-हेतु है। (तेन) उससे (इध्यस्व[3]) प्रदीप्त हो (वर्धस्व च) और बढ़। (इत् ह च) और निश्चय ही (अस्मान्) हमें (प्रजया) प्रजा से तथा (पशुभि:) पशुओं से (वर्द्धय) बढ़ा। साथ ही (ब्रह्मवर्चसेन[4]) ब्रह्म-तेज से और (अन्नाद्येन) भक्षणीय अन्न से एवं अन्नादि भोगों को भोगने के सामर्थ्य से भी (समेधय[5]) बढ़ा। (स्वाहा[6]) हम तुझमें समिधा की आहुति देते हैं। (इदम्) यह आहुति (जातवेदसे अग्नये) जातवेदस् अग्नि के लिए है, (इदम्) यह आहुति (मम न) मेरी नहीं है।

हम अग्नि में समिधा का आधान करते हुए अग्नि से कहते हैं कि इससे तू भी प्रदीप्त हो और बढ़ तथा हमें भी बढ़ा। किन वस्तुओं से बढ़ाये? प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस और अन्नाद्य से।

प्रजा का सामान्य अर्थ सन्तान होता है। परन्तु इसका यही एकमात्र अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं है। श्रेष्ठ सन्तान की प्रार्थना तो गृहस्थ ही कर सकता है, जबकि अग्निहोत्र ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तीनों के लिए है। प्रजा का यौगिक अर्थ है 'जो प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न हो'—**प्रकर्षेण जायते इति प्रजा।** जो-जो व्यक्ति जिस-जिस वस्तु को उत्पन्न करता है या करना चाहता है, वह-वह उसकी प्रजा है। ब्रह्मचारी की प्रजा है तप, अधीत विद्या, बल-वीर्य आदि। गृहस्थ की प्रजा है सन्तान। वानप्रस्थ की प्रजा है, तपस्या, संयम

---

१. जाते जाते विद्यते, जातानि वेदयते प्रकाशयति वा स जातवेदा:। जातोपपदात् विद सत्तायाम् इति यद्वा विद ज्ञाने इति णिजन्तात् 'गतिकारकोपपदयो: पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' उणा. ४.२२८ इत्यसि: प्रत्यय:।

२. 'इध्म' समिन्धनात्, निरु. ८.४। इध्यते दीप्यते इति इध्म: समित्, इन्धी दीप्तौ धातो: 'इषि युधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक्' उणा. १.१४५ इति मक् प्रत्यय'।

३. इन्धी दीप्तौ, भावे यक्।

४. ब्रह्मणो वर्च: इति ब्रह्मवर्चसम्। "ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चस:" (पा. ५.४.७८) इति समासान्तोऽच्।

५. समेधय, एध वृद्धौ, णिच्।

६. स्वाहा सुष्ठु आ समन्तात् हानं त्याग: अग्नौ हवि: प्रक्षेपणम्, सु-आ-हा, ओहाक् त्यागे।

आदि । ब्राह्मण की प्रजा है ब्रह्मज्ञान, क्षत्रियराजा की प्रजा है राष्ट्रवासी जन, वैश्य की प्रजा है कृषि से उत्पन्न सस्यसम्पत्ति, पशुपालन से उत्पन्न दुग्ध-घृतादि एवं व्यापार से उत्पन्न ऐश्वर्य। उनमें भी विभिन्न पेशों वाले व्यक्तियों की विभिन्न प्रजाएं हो सकती हैं, यथा स्वर्णकार की प्रजा हैं स्वर्णाभूषण, कुम्भकार की प्रजा हैं घट आदि मृत्पात्र। इस प्रकार प्रजा शब्द से श्रेष्ठ सन्तति के अतिरिक्त अग्निहोत्री अपने-अपने अनुकूल अन्य अर्थ भी गृहीत कर सकता है।

दूसरी वस्तु जिससे समृद्ध होने की प्रार्थना की गयी है, पशु हैं। वेदों के मुख्य पशु हैं—गौ, अश्व और अवि। गौओं से यज्ञार्थ तथा स्वोपयोगार्थ दुग्ध एवं घृत की प्राप्ति होती है। गौओं के बछड़े बैल बन कर कृषि में काम आते हैं। अश्व सवारी का साधन है। अवि (भेड़) से ऊन प्राप्त होती है। पशु का दूसरा अर्थ शारीरिक इन्द्रियां भी होता है अतः पशु से इन्द्रियों का ऐश्वर्य भी प्रार्थनीय है। तीसरे, ब्रह्मवर्चस् से ब्राह्मतेज आत्मबल या ईश्वर-विश्वास का बल अभिप्रेत है। चौथे, अन्नाद्य का अर्थ पूर्व अग्न्याधान-मन्त्र की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार अग्नि से प्रार्थित इन वस्तुओं में भौतिक तथा आत्मिक दोनों प्रकार की समृद्धि आ जाती है।[1]

द्वितीय समिधा

(ओम्) परमेश्वर का आदेश है कि (समिधा) समिधा के द्वारा (अग्निं) यज्ञाग्नि की (दुवस्यत[2]) सेवा करो; (घृतैः) घृतों से (अतिथिम्[3]) अतिथि रूप अथवा गतिशील अग्नि को (बोधयत) जागरित करो; (अस्मिन्) इसमें

---

१. तुलना : प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्ष्योत्तिष्ठन्त्समिधमादधाति—अग्नये समिध-माहार्षं बृहते जातवेदसे यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्च्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासं स्वाहेति। पारस्कर गृह्य. २.४.३

२. दुवस्यतिः परिचरणकर्मसु पठितः। निघं. ३.५

३. अतिथिम् अतिथिवत् सुगन्धिमिष्टपुष्टिप्रदरोगनाशकद्रव्यैः सत्करणीयम्। यद्वा अतति सततं गच्छतीत्यतिथिः, ज्वालाभिरितस्ततो गमनशीलोऽग्निः। अतंसातत्यगमने इति धातोः "ऋतन्यञ्जि". उणा. ४.२ इत्यादिना इथिन् प्रत्ययः।

(हव्या[1]) हवियों को (आ जुहोतन[2]) आहुत करो। अतः (स्वाहा) मैं अग्नि में समिधा की आहुति देता हूँ देती हूँ (इदम्) यह आहुति (अग्नये) अग्नि के लिए है, (इदम्) यह (न मम) मेरी नहीं है।

(ओम्) परमेश्वर का आदेश है कि (सुसमिद्धाय[3]) सम्यक्प्रकार संप्रदीप्त (शोचिषे)[4] ज्वालामय पवित्र (जातवेदसे अग्नये) जातवेदस् अग्नि के लिए (तीव्रं घृतं) तपाया हुआ घृत (जुहोतन) स्वतन्त्र रूप से या समिधा में लगा कर आहुत करो। अतः (स्वाहा) मैं घृत में डूबी समिधा का होम करता हूँ/करती हूँ। (इदम्) यह घृताक्त समिधा का होम (जातवेदसे अग्नये) जातवेदस् अग्नि के लिए है, (इदम्) यह (न मम) मेरा नहीं है।

इन मन्त्रों से घृत में डूबी हुई दूसरी समिधा की आहुति देते हैं। इन दोनों ही मन्त्रों में समिधा और घृत दोनों की चर्चा है, जबकि समिदाधान के प्रथम मन्त्र में केवल समिधा (इध्मः) का नामोल्लेख है। तृतीय समिधा वाले मन्त्र में फिर घृत और समिधा दोनों का वर्णन है। इस प्रकार समिदाधान के चार मन्त्रों में से तीन में दोनों का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि घृत में डुबा कर ही समिधाओं का आधान करना अभिप्रेत है, शुष्क समिधाओं का नहीं।

इस प्रकरण में एक शंका यह की जाती है कि जब उक्त दोनों मन्त्रों का उच्चारण कर चुकने के पश्चात् ही अग्नि में द्वितीय समिधा छोड़ी जाती है, तब प्रथम मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा'। **'इदमग्नये—इदं न मम'** क्यों पठित किया गया है। इस विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि यह अंश नहीं बोलना चाहिए, अन्यों का मत है कि 'समिधाग्निं' सम्पूर्ण मन्त्र का जपमात्र इष्ट जानना चाहिए।[5] परन्तु महर्षि के विधान के अनुसार यथालिखित दोनों

---

१. हव्या हव्यानि। "शेश्छन्दसि बहुलम्" पा. ६.१.७० इति शेर्लोपः'।

२. जुहोतन जुहुत। "तप्तनप्तनथनाश्च" पा. ७.१.४५ इति तस्य तनबादेशः'।

३. सु सम् इन्धी दीप्तौ, क्त प्रत्ययः।

४. शोचति दीप्यते, शुच्यति पवित्रो भवति शोचयति पवित्रीकरोतीति वा शोचिः अग्निः। शुच दीप्तौ, यद्वा शुचिर पूतीभावे इति धातोः "अर्चि शुचि हुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः" उणा. २.१.१० इत्यसिः।

५. द्रष्टव्य : रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित संस्कारविधि का आर्यसमाज शताब्दी संस्करण, प्रथम परिशिष्ट, पृ. ३३० तथा वैदिक-नित्यकर्म-विधि' संस्करण ११८०, द्वितीय परिशिष्ट पृ. २१२-१५ पर पं० युधिष्ठिर मीमांसक का लेख।

ही मन्त्रों का अविकल रूप से उच्चारण किया जाना अभीष्ट है। किसी अंश का त्याग देना, अथवा दोनों में से प्रथम मन्त्र का जपमात्र करना तथा उच्चारण केवल दूसरे मन्त्र का करना महर्षि का अभिमत प्रतीत नहीं होता है। शंका का समाधान इस प्रकार हो सकता है कि जब दो मन्त्रों से एक आहुति दी जानी है तथा एक मन्त्र में केवल अग्नि नाम है और दूसरे मन्त्र में जातवेदस् अग्नि, तब इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं हो सकता था कि प्रथम मन्त्र में अग्नि के लिये 'स्वाहा' आदि कह दिया जाये तथा द्वितीय में जातवेदस् अग्नि के लिए; तदनन्तर आहुति इकट्ठी दे दी जाये।

तृतीय समिधा

(अङ्.गिर:[1]) हे गति करने तथा कराने वाले अग्नि! (तं त्वा) उस तुझको (घृतेन) घृत के साथ (समिद्भिः) समिधाओं से (वर्द्धयामसि[2]) हम बढ़ाते हैं। (यविष्ठ्य[3]) हे पदार्थों को मिलाने और पृथक् करने वाले अग्नि! तू (बृहत्) बहुत अधिक (शोच[4]) प्रदीप्त हो। (स्वाहा) मैं तुझमें घृताक्त समिधा की आहुति देता हूँ/देती हूँ। (इदम्) यह आहुति (अङ्गिरसे अग्नये) अंङ्गिरा अग्नि के लिए है; (न मम) किन्तु यह मेरी नहीं है।

इस मन्त्र में अग्नि को अङ्गिरा तथा यविष्ठ्य नामों से सम्बोधित किया है। अङ्गिरस् शब्द गत्यर्थक अगि धातु से बनता है। अग्नि स्वयं गतिमान् है। वह शीत पदार्थों को उष्ण करने के लिए उनकी ओर प्रवाहित होता है, उसकी ज्वालायें भी गति करती हैं। साथ ही वह यान आदि में प्रयुक्त होकर उन्हें गति देता या चलाता है। अग्निहोत्र का अग्नि रोग,

---

१. अङ्गति गच्छति गमयति चालयति यानादीन् उत्खातयति रोगादीन् वा, गमयति प्रापयति स्वास्थ्यादिकं वा सोऽङ्गिराः, तत्सम्बुद्धौ। अगि गतौ इति धातोः 'अङ्गिराः' उणा. ४.२३७ इत्यसि प्रत्यय इरुडागमश्च।

२. वर्द्धयामसि वर्द्धयामः। "इदन्तो मसि" पा. ७.१.४६ इति मस् इदन्तः।

३. यौति पदार्थान् मिश्रयति पृथक् करोति च स युवा। अतिशयेन युवा यविष्ठः, यविष्ठ एव यविष्ठ्यः। अत्र युवन् शब्दादिष्ठन् प्रत्ययस्ततो "नवसूरमर्तयविष्ठेभ्यो यत्" पा. ४.५.३६ इति वार्तिकेन स्वार्थे यत् प्रत्ययः।

४. शोचा शोच दीप्यस्व, शुच दीप्तौ। संहितायां "द्व्यचोऽतस्तिङः" पा. ६.३.१३५ इति दीर्घः।

निस्तेजस्कता, काम, क्रोध आदि को गति देता अर्थात् विचलित कर देता या उखाड़ फेंकता है तथा स्वास्थ्य आदि को प्राप्त कराता है। यविष्ठ्य शब्द युवन् शब्द से अतिशय अर्थ में इष्ठन् तथा स्वार्थ में यत् प्रत्यय करके सिद्ध होता है। युवन् में यु धातु है, जिसके मिलाना तथा पृथक्-पृथक् करना दोनों अर्थ होते हैं। अग्नि के प्रयोग से पदार्थ जुड़ भी सकते हैं तथा टुकड़ों या अणुओं में विभक्त भी हो सकते हैं। अग्निहोत्र का अग्नि भी वायुमण्डल के साथ हव्य पदार्थों के यज्ञिय धूम को संयुक्त करता है तथा वायुमण्डल में विद्यमान मलिनता, रोगकृमि आदि को उससे पृथक् करता है।

अग्नि में तीन समिधायें अर्पित करने का तात्पर्य

समित् (समिधा) शब्द सम् उपसर्गपूर्वक दीप्त्यर्थक इन्ध् धातु से सिद्ध होता है। लकड़ी को समिधा इस कारण कहते हैं, क्योंकि वह अग्नि में पड़ कर प्रदीप्त हो उठती है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि जब आचार्य ब्रह्मचारी को कहता है कि समिधा का आधान कर, तब उसका तात्पर्य होता है कि तू अपने आपको तेज और ब्रह्मवर्चस् से प्रदीप्त कर—

समिधमाधेहीति समिन्त्स्वात्मानं तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेत्येवैनं तदाह[1]।

अथर्ववेद में भी कहा है कि ब्रह्मचारी समिधा से समिद्ध (प्रदीप्त) होकर गुरुकुल से बाहर आता है— **ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः।**[2] अतः समिदाधान करते समय ब्रह्मचारी के समान प्रत्येक अग्निहोत्री को यह भावना जगानी चाहिए कि जैसे ये समिधाएं अग्नि में पड़ कर प्रदीप्त हो उठती हैं, वैसे ही मैं भी तेज और ब्रह्मवर्चस् से प्रदीप्त हो जाऊंगा।

तीन समिधाओं के विषय में अथर्ववेद कहता है कि एक समिधा यह पृथिवी होती है, दूसरी समिधा द्युलोक, तीसरी अन्तरिक्ष; इस समिदाधान के द्वारा ब्रह्मचारी तीनों लोकों को पालित पूरित करता है—

---

१. शत. ११.५.४.५

२. अथर्व ११.५.६
'समिधा सायंप्रातरग्नावाधीयमानया तज्जनितेन तेजसा समिद्धः संदीपितः' —सायण।

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ।।[1]

इससे सूचित होता है कि अग्नि में समिधाएं अर्पित करते समय यजमान यह चिन्तन करे कि मेरी ये तीन समिधा क्रमशः पृथिवी, द्यौ और अन्तरिक्ष हैं । जैसे अग्नि में आहुत समिधाएं प्रदीप्त हो जाती हैं, वैसे ही मेरी ज्ञानाग्नि में ये तीनों लोक प्रकाशित हो उठें, अर्थात् मैं इनका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लूं ।

तीन समिधाएं अन्य त्रिकों की भी प्रतीक बन कर उनके ज्ञान, उनके ग्रहण एवं उन्हें दृष्टि में रखकर अपने कर्त्तव्य-पालन की द्योतक हो सकती हैं । यथा—

प्रथम समिधा	द्वितीय समिधा	तृतीय समिधा
अग्नि	वायु	आदित्य
ऋग्	यजुः	साम
प्रकृति	जीव	ईश्वर
ज्ञान	कर्म	उपासना
जाग्रत्	स्वप्न	सुषुप्ति
तमस्	रजस्	सत्त्व
विट्	क्षत्र	ब्रह्म
माता	पिता	आचार्य
प्रातःसवन	माध्यन्दिन सवन	सायं सवन
देव ऋण	पितृऋण	ऋषिऋण
ब्रह्मचर्य	गार्हस्थ्य	वानप्रस्थ
अधियज्ञ	अधिदैवत	अध्यात्म
भूत	वर्तमान	भविष्य
वात	पित्त	कफ
सत्यम्	शिवम्	सुन्दरम्
श्रवण	मनन	निदिध्यासन
मन	वचन	कर्म
व्यक्ति	राष्ट्र	विश्व
शरीर	मन	आत्मा

१. अथर्व. ११.५.४

समिधाएं आठ-आठ अंगुल की क्यों ?

तीन समिधाएं आठ-आठ अंगुल की लेनी होती हैं। आठ अंगुल की समिधा को घृतपात्र में डुबोना तथा यज्ञकुण्ड में उसकी आहुति देना सुविधा-जनक तो है ही, किन्तु साथ ही इससे यजमान कतिपय भावनाओं को भी गृहीत कर सकता है। यथा—

१. अग्नि का सम्बन्ध गायत्री छन्द से विशेष है।[1] गायत्री छन्द में ८-८ अक्षर के तीन पाद होते हैं। आठ-आठ अंगुल की तीन समिधाएं भी एक प्रकार से गायत्री छन्द बना देती हैं। इस प्रकार अग्निहोत्री समिदाधान द्वारा गायत्री छन्द को स्मरण करता है, जो उर्ध्वारोहण का प्रतीक है।

२. आठ-आठ अंगुल की तीन समिधाओं के आधान से जो २४ की संख्या बनती है, उससे अग्निहोत्री अपने अन्दर यह भावना भी जगा सकता है कि मैं अहोरात्र के अपने चौबीसों घंटों में अग्नि जैसी तेजस्विता को धारण किये रहूंगा।

३. अहोरात्र में आठ याम या प्रहर होते हैं। अष्ट अंगुल आठ यामों के तथा समिधाओं की त्रित्व संख्या मन, वचन और कर्म की सूचक हैं। समिदाधान करता हुआ यह भावना ग्रहण करे कि मैं अहोरात्र के आठों प्रहरों में मन, वचन और कर्म तीनों से अग्नि के समान सत्यव्रती बनूंगा।

४. आठ अंगुल आठ दिशाओं को तथा तीन समिधाएं व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व को सूचित करती हैं। अग्निहोत्री यह भावना अपने अन्दर बद्धमूल करे कि मैं आठों दिशाओं में वैयक्तिक, राष्ट्रीय और विश्व की शान्ति एवं उन्नति में संलग्न रहूंगा।

५. अष्ट अंगुल यम-नियम-आसन-प्राणायाम आदि आठ योगांगों के तथा तीन समिधाएं शरीर, मन, और आत्मा की द्योतक हैं। अग्निहोत्री यह चिन्तन करे कि मैं आठों योगांगों के द्वारा जीवनभर अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति करता रहूंगा।

६. आठ अंगुल अणिमा, लघिमा, महिमा आदि आठ सिद्धियों के तथा समिधाओं की त्रित्व संख्या बालक, युवक, वृद्ध की प्रतीक हैं। अग्निहोत्री यह भावना ग्रहण करे कि आठों सिद्धियों को प्राप्त कर उनके सहारे मैं बालक, युवक, वृद्ध सबका कल्याण करूंगा।

---

१. अग्नेर्गायत्र्यभवत्। ऋग्. १०.१३०.४

७. आठ अंगुल मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर आदि शरीरस्थ आठ चक्रों के तथा समिधाओं का त्रित्व, प्राण, मन और आत्मा का सूचक हैं। अपने प्राण, मन और आत्मा को इन चक्रों में चङ्क्रमण करा कर आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त करे, यह सूचित होता है।

८. आठ अंगुल से अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, नक्षत्र ये आठ वसु सूचित होते हैं। तीन समिधाएं माता, पिता, तथा आचार्य इन तीन गुरुओं की द्योतक हैं। तीन गुरुओं की सहायता से आठों वसुओं का सम्पूर्ण ज्ञान करे, यह सूचना मिलती है।

इन सब भावनाओं को ग्रहण करने के साथ-साथ अग्नि में समिधाओं के प्रज्वलन से जो पूर्ववर्णित तात्पर्य सूचित होता है, उसे भी स्मरण रखना है।

इदं न मम—

समिदाधान के चारों मन्त्रों के अन्त में 'इदं न मम' का उच्चारण किया जाता है। आगे भी जहां 'स्वाहा' बोलकर आहुति दी जाती है, वहां मन्त्र के अन्त में 'इदं न मम' आया है। आहुति में जो कुछ समिधा, घृत, सुगन्धि-मिष्ट-पुष्ट-रोगनाशक द्रव्य आदि हम अग्नि को भेंट देते हैं, वह 'हमारा नहीं हैं' जिसका अंश था, उसे दिया जा रहा है, इसमें हमारा कुछ गौरव नहीं है, इस प्रकार **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'** की भावना 'इदं न मम' के द्वारा जागरित की जाती है। यदि दान के साथ अहंकार या ममत्व की भावना हो तो वह दान सात्त्विक नहीं, प्रत्युत राजस कहलाता है। कविवर रहीम के जीवन की एक घटना 'इदं न मम' की भावना को बहुत सुन्दर रूप से प्रकाशित करती है। रहीम नवाब थे। उनका नियम था प्रतिदिन कुछ रुपये-पैसे आदि मिलाकर चारों ओर उनकी ढेरी लगा देते और आँखें नीचे करके उसमें से याचकों को मुट्ठी भर कर दे जाते। एक बार कविवर गंग ने पूछा—

ऐसी कहां नवाबजू सीखे देनी दैन।
ज्यों ज्यों कर ऊंचे चढ़ें त्यों त्यों नीचे नैन ॥

रहीम ने उत्तर दिया—

देने वाला और है जो देता दिन रैन।
दुनियां मेरा नाम ले या विधि नीचे नैन ॥[1]

१. पं. बुद्धदेव विद्यालंकार : पंचयज्ञप्रकाश। ब्रह्मयज्ञ प्रकरण के 'दक्षिणा दिग्' मन्त्र की व्याख्या, पृ. ७६, से यह कथा गृहीत की गयी है।

पांच घृताहुतियां

विधि—घृत में कस्तूरी, केशर, जायफल-जावित्री, मीठा आदि डालकर मोहनभोग[1] बनाये। उस घृत में चमसा जिसमें छह मासा ही घृत आवे ऐसा बनाया हो, भरके नीचे लिखे मन्त्र से पांच आहुति देनी—

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ।। इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम ।।[2]

यह मन्त्र इसी रूप में समिदाधान-विधि में आ चुका है। वहां समिदाधान में इसका विनियोग होने से 'इध्म:' का अर्थ समिधा किया गया था। यहां घृताहुति में विनियुक्त होने से 'इध्म:' घृतवाची होगा—**इन्धे प्रदीपयति अग्निम् इति इध्मः घृतम्**। शेष अर्थ पूर्ववत् होगा।

घृताहुतियां पांच क्यों ?—वेद संस्कृति में तीन संख्या के समान पांच की संख्या का भी विशेष महत्त्व है। पांच प्राण हैं, पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, पांच कर्मेन्द्रियां हैं, पांच कोश हैं, पांच महायज्ञ हैं, पांच अग्नियां हैं, पांच सामगान के अवयव हैं, पांच तन्मात्राएं हैं, पांच भूत हैं, पांच शरीर की धातुएं हैं, पांच पशु हैं, पांच यम हैं, पांच नियम हैं।[3] पांच घृताहुतियां देते हुए इन तथा अन्य पंचकों का हमें ध्यान रखना है। जैसे घृताहुति से अग्नि प्रदीप्त होती है, वैसे ही इन पंचकों को हमें अपनी ज्ञानाग्नि में प्रदीप्त करना है तथा इनका अपने जीवन में यथायोग्य उपयोग करना है।

अध्यात्म-योजना—बाह्य अग्निहोत्र के साथ-साथ हमें आन्तरिक अग्निहोत्र भी करना है। उस पक्ष में अग्नि परमात्मा है। उस परमात्माग्नि में हम

---

१. 'सेर भर घी के मोहनभोग में रत्ती भर कस्तूरी, मासे भर केशर, दो मासे जायफल-जावित्री, सेर भर मीठा—सब डालकर मोहनभोग बनाना। इसी प्रकार अन्य मीठा भात, खीर, खिचड़ी, मोदक आदि होम के लिये बनावें।—सं. वि. सामान्य प्रकरण।

२. आश्वलायन गृह्य १.१०.१२

३. पांच अग्नियां=गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य, आवसथ्य। पांच सामावयव=हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, निधन। पांच शरीर धातुएं=चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा। पांच पशु=तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः। अथर्व. ११.२.९

अपने आत्मा को ईंधन बनाकर समर्पित करते हैं, जिससे हमारा आत्मा ब्रह्मतेज एवं सद्गुणों से प्रदीप्त हो उठे। मन्त्रार्थ इस प्रकार होगा—

(ओम्) हे परमात्मा! (जातवेदः[1]) हे सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वविदित, सर्वैश्वर्यवान् परमेश्वर! (अयम् आत्मा) यह मेरा आत्मा (ते इध्मः) ईंधन और घृत के समान तुझे समर्पित है। (तेन) इस मेरे आत्मसमर्पण से (इध्यस्व) तू प्रदीप्त अर्थात् प्रसन्न हो, (वर्धस्व च) और बढ़ अर्थात् सर्वत्र तेरा प्रचार-प्रसार हो। (इत् ह च) और साथ ही निश्चयपूर्वक (अस्मान्) हमें (प्रजया) सद्गुणों की सृष्टि से और (पशुभिः) सूक्ष्म-दर्शन की शक्तियों से (वर्धय) बढ़ा, तथा (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से और (अन्नाद्येन) सांसारिक भोगों को भोगने के उचित प्रकार के ज्ञान से (समेधय) उन्नत कर। (स्वाहा[2]) यह कैसी उत्तम प्रार्थना है, अथवा यह मेरा आत्म-समर्पण स्वीकार कर। (इदं जातवेदसे अग्नये) यह जातवेदा प्रभु को मेरा समर्पण है, (इदं न मम) यह अहंकार से मिश्रित नहीं है।

विधि—तत्पश्चात् अंजलि में जल लेके वेदी के पूर्व दिशा आदि में चारों ओर छिड़कावें। उसके ये मन्त्र हैं—

ओम् अदितेऽनमुन्यस्व। इस मन्त्र से पूर्व,

ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व। इससे पश्चिम,

ओम् सरस्वत्यनुमन्यस्व।[3] इससे उत्तर और

१. जातवेदाः कस्मात्? जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः, जाते जाते विद्यते इति वा, जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः। निरु. ७.१९

२. स्वाहा इत्येतत् सु आहेति वा, स्वा वाग् आहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। निरु. ८.२०

३. तुलनीय : अग्निमुपसमाधाय परिसमुह्य दक्षिणजान्वक्तो दक्षिणेनाग्निम् 'अदितेऽनुमन्यस्व' इत्युदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत्। 'अनुमतेऽनुमन्यस्व' इति पश्चात्, 'सरस्वत्यनुमन्यस्व' इत्युत्तरतः। 'देव सवितः प्रसुवः' इति प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्षेत् सकृद् वा त्रिर्वा। गोभिल गृह्य: १.३.१—४। अग्निं परिषिञ्चति' अदितेऽनुमन्यस्व' इति दक्षिणतः प्राचीनम्, 'अनुमतेऽनुमन्यस्व' इति पश्चादुदीचीनं, 'सरस्वतेऽनुमन्यस्व' इत्युत्तरतः प्राचीनं 'देव सवितः प्रसुव' इति समन्तम्। आपस्तम्ब गृह्य: १.२.३। इन दोनों गृह्यसूत्रों में प्रथम मन्त्र से दक्षिण दिशा में जल-सेचन करना लिखा है, जबकि स्वामी जी का विनियोग पूर्व दिशा का है। विनियोगों में अन्तर प्राचीन आचार्यों में भी पाया जाता है।

ओं देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥[1]

इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कावें।

(ओम्[2]) मैं परमेश्वर को स्मरण करके कहता हूँ। (अदिते) हे मेरे अखण्डनीय अजर-अमर आत्मन्! (अनुमन्यस्व) तू इस यज्ञ-कर्म का अनुमोदन कर।

(अनुमते) हे अनुकूल मनन-चिन्तन और बोध के साधन-भूत मन और बुद्धि (अनुमन्यस्व) तुम भी यज्ञ-कर्म का अनुमोदन करो।

(सरस्वति) हे वाणी! (अनुमन्यस्व) तू भी यज्ञ-कर्म का अनुमोदन कर।

(देव सवितः) हे प्रकाशक प्रेरक परमेश्वर! (यज्ञं प्रसुव) यज्ञ को प्रेरित करो, (यज्ञपतिं प्रसुव) मुझ यजमान को प्रेरित करो (भगाय) जिससे उत्कृष्ट फल की प्राप्ति हो। (दिव्यः) दिव्य (गन्धर्वः) आत्मा को धारण करने वाला और (केतपूः) विचार को पवित्र करने वाला परमेश्वर (नः केतं पुनातु) हमारे विचार को पवित्र करे। (वाचस्पतिः) वाणी का अधिपति परमेश्वर (नः वाचं) हमारी वाणी को (स्वदतु) मधुर अर्थात् यज्ञ का अनुमोदन करने वाली बनाये।

विधि में स्वामी जी ने केवल दिशाओं का उल्लेख किया है कि अमुक मन्त्र से पूर्व में, अमुक मन्त्र से पश्चिम में, अमुक मन्त्र से उत्तर में और अमुक मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कावें। किन्तु यहां प्रश्न यह उठता है कि दिशा में किस ओर से किस ओर को जल छिड़के? इसका उत्तर आपस्तम्ब गृह्यसूत्र से मिलता है। वहां बताया है कि जल सेचन की गति पूर्वाभिमुख (प्राचीनम्) या उत्तराभिमुख (उदीचीनम्) होगी। यथा, जब पूर्व और पश्चिम में जल छिड़केंगे, तब दक्षिण से उत्तर की ओर गति होगी और जब उत्तर में जल छिड़केंगे तब पश्चिम से पूर्व की ओर गति होगी। जब चारों ओर जल छिड़केंगे, तब पूर्व दक्षिण कोण से आरंभ करके दक्षिण पश्चिम-उत्तर-पूर्व इस क्रम से प्रदक्षिणा की तरह धार बांध कर जल-सेचन करते चलेंगे और पूर्व-दक्षिण कोण पर जहां से आरंभ किया था वहीं पहुंच कर विराम करेंगे। इस प्रकार पूर्व,

---

१. यजु-३०.१

२. आगे भी सब मन्त्रों के प्रारंभ में ओम् प्रयुक्त हुआ है। अब पुनः-पुनः उसका अर्थ नहीं किया जायेगा।

पश्चिम, उत्तर इन तीन दिशाओं में दो-दो जलधाराएं तथा दक्षिण में एक जलधारा बन जायेगी, जैसा कि नीचे के रेखा-चित्र से स्पष्ट है—
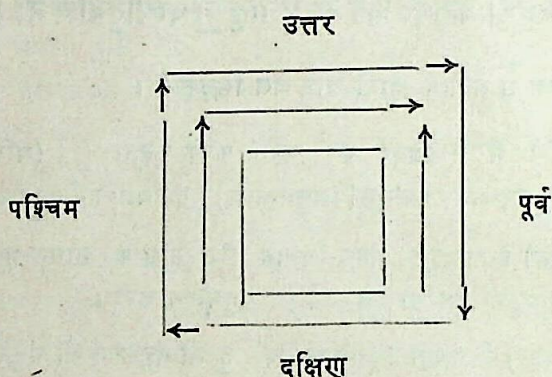
यहां यह समझना है कि अमुक-अमुक मन्त्र से अमुक-अमुक दिशाओं में ही जल-सेचन क्यों करते हैं ? अधिदैवत दृष्टि से अदिति पूर्वा सन्ध्या (उषा) का, अनुमति पश्चिमा सन्ध्या का और सरस्वती उत्तरायण सूर्य की प्रभा का वाची है। सविता सूर्य का वाचक है। पृथिवी अपनी धुरी पर घूमती है, जिससे अहोरात्र बनते हैं। हम पृथिवी-वासियों को प्रतीत यह होता है कि सूर्य आकाश में पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा कर रहा है। वह हमारे गोलार्ध में प्रातः पूर्व में उदित हो सायं पश्चिम में अस्त होता है। जब यहां अस्त होता है, तब दूसरे गोलार्ध में उदित होता है और जब यहां उदित होता है, तब दूसरे गोलार्ध में अस्त होता है। सूर्य की इसी प्रातीतिक गति को लेकर यज्ञ-विधियां की जाती हैं। जैसे सूर्य पृथिवी की प्रातीतिक परिक्रमा करता है, वैसे ही चतुर्थ मन्त्र बोल कर यज्ञ-वेदी के चारों ओर जल छिड़का जाता है। जल-सेचन का प्रकार यह है कि अंजलि में जल लेकर धार बांध कर शनैः शनैः छोड़ा जाता है।

अब चित्र में देखिये। यह एक अग्नि-जलीय रक्षा-कवच बन गया है। मध्य में यज्ञ-कुण्ड की अग्नि है, जिसके तीन ओर दोहरी तथा एक ओर इकहरी जल-धारा है। इसका साम्य मनुष्य के मस्तिष्क से हो जाता है, जिसे वेद में अर्वाग्बिल ऊर्ध्वबुघ्न चमस[1] कहा गया है—अर्थात् ऐसा पात्र जिसमें छिद्र नीचे की ओर तथा पृष्ठ ऊपर की ओर है। नीचे दक्षिण[2] में आभ्यन्तर

१. तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुघ्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। अथर्व. .१०.८.९, तुलना: शत. १४.५.२

२. कहीं-कहीं वेद में दक्षिण को अधर कहा है; यथा, ऋग् १०.३६.१४। मानचित्र में भी दक्षिण दिशा नीचे ही आती है।

जल-धारा न होने से नीचे से यह सच्छिद्र है। मनुष्य के मस्तिष्क में जो अग्नि तत्त्व विद्यमान है, उसके चारों ओर हमें सौम्यता का घेरा देना है, यह यहां यज्ञाग्नि को जल-धाराओं से वेष्टित करने की विधि से सूचित होता है।

जीवन में अकेला आग्नेय तत्त्व ही पर्याप्त नहीं है। उसके साथ जलीय या सौम्य तत्त्व का होना भी आवश्यक है। यह जगत् अग्नि और सोम तत्त्वों के मेल से ही बना है—**अग्नीषोमात्मकं जगत्**[1] जीवन-यज्ञ या कोई भी यज्ञ अग्नि और सोम तत्त्वों के योग से ही चलता है—**अग्नीषोमाभ्यां यज्ञश्चक्षुष्मान्**[2] जल और ज्योति के संयोग से ही वर्षा या फलप्राप्ति होती है—**अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते**[3] मनुष्य के स्वभाव में भी अग्नि और शीतलता दोनों की आवश्यकता है। वेद कहता है—**"अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषम्"**[4] अर्थात् अपने अन्दर अग्नि और सोम दोनों तत्त्वों के उत्कर्ष से ही मैं जीवन में विजय-लाभ कर सकता हूं। इसी बात की सूचक यह विधि है। जल से घिरी हुई यज्ञ-वेदी समुद्र-वसना पृथिवी के सदृश हो जाती है—**इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः**[5] इस प्रकार यज्ञवेदि में सम्पूर्ण पृथिवी को देखना अग्निहोत्री का कर्तव्य है। तभी कहा है कि यह यज्ञ सारे ब्रह्माण्ड को एक सूत्र में बांधने वाली नाभि है—**अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।**[6]

इन चार मन्त्रों में एक-एक देवता से यज्ञ का अनुमोदन करने की प्रार्थना की गयी है। चार देवता हैं अदिति, अनुमति, सरस्वती और सविता। अदिति अधिदैवत में प्राची की उषा है। उषाएं यज्ञ की प्रेरक हैं। उनका अपना चरित्र भी यज्ञमय है। वे सूर्य को उत्पन्न करती हैं, यज्ञ को उत्पन्न करती हैं, यज्ञाग्नियों को प्रज्वलित करती हैं—**अजीजनन् सूर्यं यज्ञमग्निम्**[7] अदिति शब्द नञ् पूर्वक 'दो अवखण्डने' धातु से बनता है। अध्यात्म में अखण्ड-नीय, अजर-अमर जीवात्म-शक्ति यहां अदिति शब्दवाच्य है। यदि आत्मा का

---

१. बृहज्जाबालोप. २·३ २. काठक संहिता ५·१
३. निरु. २·१७ ४. यजु. २·१५
५. यजु. २३·६२ ६. यजु. २३·६२
७. ऋग्. ७·७८·३

समर्थन प्राप्त न हो तो मनुष्य यज्ञ में प्रवृत्त नहीं रह सकता। अदिति आत्मा यज्ञ की दिव्य नौका है—

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये॥[1]

यह आत्म-शक्ति रूपिणी यज्ञ[2] की नाव सुरक्षा करने वाली है, विशाल है, तेजोमयी है, निष्पाप है, उत्तम शरण देने वाली है, शुभ मार्ग-दर्शन करने वाली है, यज्ञांग रूप उत्तम चप्पुओं वाली है, कभी न चूने वाली है। यदि हम कल्याण चाहते हैं तथा अपने यज्ञ को प्रवृत्त रखना चाहते हैं तो हमें इस पर सवार होना चाहिए। अतएव अदिति को यज्ञ का सिर कहा गया है।[3]

दूसरी, 'अनुमति' अधिदैवत में रक्ताभ पश्चिम सन्ध्या है। उसका चरित्र भी यज्ञमय है। वह भी यज्ञ को उद्बुद्ध करती है। अध्यात्म में अनुमति है यज्ञ के अनुकूल निश्चय करने वाली बुद्धि, जिसमें मनन-चिन्तन-शील मन भी सम्मिलित है। इसके सम्बन्ध में वेद कहता है—

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम॥[4]

अर्थात् अनुकूल निश्चय करने वाली बुद्धि विद्वानों में हमारे यज्ञ का अनुमोदन करे। वह और हविर्वाहक यज्ञाग्नि दोनों मुझ यज्ञकर्ता के लिए यज्ञसाधक हों।

तीसरी, 'सरस्वती' अधिदैवत में उत्तरायण सूर्य की प्रभा है। यह भी अपने चरित्र और गुणों से यज्ञमय तथा यज्ञ की प्रेरिका है। अध्यात्म में यह वाणी है। वाणी द्वारा मन्त्रोच्चारण करने से ही यज्ञ चलता है, वाणी से ही यज्ञ की महिमा का गान किया जाता है अतः उसके द्वारा भी यज्ञ का अनुमोदन आवश्यक है। वेद कहता है—

---

१. यजु. २१·६
२. दैवीं यज्ञमयीं नावम्—उवट। नावं यज्ञरूपाम्—महीधर
३. मुखस्य शिरोऽसि। यजु. ११.५७
४. अथर्व. ७·२०·१

चो॒द॒यि॒त्री सू॒नृता॑नां॒ चेत॑न्ती सुमती॒नाम् ।
य॒ज्ञं द॑धे॒ सर॑स्वती ॥[1]

अर्थात् प्रिय-सत्य वचनों की प्रेरिका और सुमतियों को जागृत करने वाली वाणी यज्ञ को धारण करती है।

चौथा 'सविता' अधिदैवत में सूर्य है। सूर्य द्वारा संवत्सर रूपी यज्ञ चलता है। सूर्य से हम भी यज्ञ की प्रेरणा लें। अध्यात्म में सविता प्रेरक परमेश्वर है।[2] उससे भी प्रार्थना की गयी है कि आप मेरे अन्दर सदा यज्ञ की प्रेरणा करते रहें और मुझ यज्ञपति का मार्गदर्शन करते रहें। वह सविता परमेश्वर ही पूर्वोक्त तीनों आत्मा, मन-बुद्धि और वाणी को यज्ञ-समर्थन की शक्ति प्रदान करने वाला है। वह 'गन्धर्व' अर्थात् आत्मा रूप गौ को धारण करने वाला है। वही 'केतपूः' मन, बुद्धि एवं विचारों को पवित्र करने वाला है। वही वाचस्पति अर्थात् वाणी का स्वामी है। ये चारों देवता यदि हमारे यज्ञ का—बाह्य यज्ञ तथा आन्तरिक यज्ञ दोनों का—अनुमोदन करते रहें तो हमारा यज्ञ निर्विघ्न होकर निरन्तर चलता रह सकता है।

दो आघारावाज्याहुतियां—

विधि—यज्ञकुण्ड के उत्तर भाग में जो एक आहुति और यज्ञकुण्ड के दक्षिण भाग में दूसरी आहुति देनी होती है, उनका नाम 'आघारावाज्याहुति' है और जो कुण्ड के मध्य में आहुतियां दी जाती हैं, उनको 'आज्यभागाहुति' कहते हैं।[3] घृतपात्र में से स्रुवा को भर अंगूठा, मध्यमा, अनामिका से स्रुवा को पकड़ के—

ओम् अग्नये स्वाहा । इदमग्नये—इदन्न मम ।[4]

इस मन्त्र से वेदी के उत्तर भाग अग्नि में, और

---

१. ऋग्. १·३·११
२. 'सवितः सर्वेषु जीवेष्वन्तर्यामितया सत्यप्रेरक परमेश्वर' इति यजुः १·२६ भाष्ये दयानन्दः। सुवति यज्ञादिषु शुभकर्मसु प्रेरयतीति सविता, षू प्रेरणे।
३. जिन्हें स्वामी जी ने आघारावाज्याहुति कहा है, उन्हें कर्मकाण्ड के प्राचीन ग्रन्थों में आज्यभागाहुती कहा गया है, तथा जिन्हें स्वामी जी ने आज्यभागाहुती माना है, वे कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में आघाराहुती नाम से प्रसिद्ध हैं। द्रष्टव्यः संस्कारविधि के रामलालकपूर ट्रस्ट से प्रकाशित आर्यसमाज-स्थापना शताब्दी-संस्करण में पं. युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी।
४. तुलनीयः अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा। यजु. १०·५; अग्नये स्वाहेत्युत्तरतः सोमाय स्वाहेति दक्षिणतः प्राक्शो जुहुयात्। गोभिल गृह्य. १·८·४

ओम् सोमाय स्वाहा । इदं सोमाय–इदन्न मम ।

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिण भाग में प्रज्वलित समिधा पर आहुति देवें।

आघार का अर्थ है मक्खन को अग्नि में तपा कर पिघलाया हुआ घृत ।[1] होमादि में मन्त्र-विशेषपूर्वक देवताविशेष को घृत प्रदान करने की क्रिया भी आघार कहलाती है।[2] आघाराहुतियों में घृत प्रचुर मात्रा में होता है तथा यज्ञकुण्ड के उत्तर या दक्षिण दिशा में घृत-धारा को पश्चिम से पूर्व की ओर ले जाते हुए डाला जाता है। इन दो आहुतियों के आघाराहुती तथा आघारा-वाज्याहुती दोनों नाम हैं। ये आघाराहुतियां यज्ञ का सिर कही गयी हैं।[3] शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि पूर्व आघार ऋत है और उत्तर आघार सत्य, इन्हें करने वाला ऋत और सत्य को तथा ऋत और सत्य से जीतने योग्य जो कुछ भी है उसे जीत लेता है।[4] इनमें क्रमशः अग्नि और सोम को आहुति दी गयी है। अग्नि सूर्य है, सोम चन्द्रमा; अग्नि यज्ञाग्नि है, सोम जल; अग्नि तैजस तत्त्व है, सोम अप्तत्त्व; अग्नि वाणी है, सोम मन;[5] अग्नि प्राण है, सोम रयि[6]; अग्नि प्राण है सोम अपान;[7] अग्नि दिन है, सोम रात्रि;[8] अग्नि जीवात्मा है, सोम पाञ्चभौतिक देह; अग्नि परमेश्वर है, सोम प्रकृति-तत्त्व। अग्नि और सोम ब्रह्मवर्चस को देने वाले हैं।[9] अग्नि और सोम के वीर्य से ही इन्द्र वृत्र के संहार में समर्थ होता है।[10] दोनों के नाम से अग्नि में आघाराहुति देते हुए हम दोनों को ही अपने मानस में प्रदीप्त करते हैं और दोनों का अपने जीवन में सामंजस्य रखने का संकल्प लेते हैं। अग्नि के नाम पर उत्तर में और सोम के नाम पर दक्षिण में आहुति इस कारण देते हैं,

---

१. आघार्यते प्रदीप्यते प्रक्षार्यते वा स आघारः, घृ क्षरणदीप्त्योः।

२. आघारः कर्मणि घञ् घृते। भावे घञ्, होमादौ मन्त्रविशेषेण देवता-विशेषाय घृतदाने। शब्दस्तोममहानिधिः

३. शिरो वा एतद् यज्ञस्य यदाघारः। शत. १·४·५·५

४. शतः ११·२·७·९

५. मनश्चैवास्य वाक् चाघारौ। शत. ११·२·६·३

६. द्रष्टव्यः प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न १

७. प्राणापानौ-अग्नीषोमौ। ऐ. ब्रा. १·८

८. अहोरात्रे वा अग्नीषोमौ। कौ. ब्रा. १०·३

९. अग्नीषोमौ वै ब्रह्मवर्चसस्य प्रदातारौ। मैत्रा. सं. २·१·४; काठ. सं. १०·२

१०. अग्नीषोमाभ्यां वै वीर्येणेन्द्रो वृत्रमहन्। मैत्राः सं. २·१·३; ४·३·१; काठ. सं. २४·७·३२

क्योंकि उत्तर दिशा आग्नेय है, दक्षिण दिशा सौम्य है।[1] सूर्य ज्यों-ज्यों उत्तरायण होता है, त्यों-त्यों गर्मी बढ़ जाती है और ज्यों-ज्यों दक्षिणायन होता है, त्यों-त्यों सर्दी बढ़ती है।

दो आज्यभागहुतियां

विधि—**ओं प्रजापतये स्वाहा[2]। इदं प्रजापतये–इदन्न मम ।।**
ओं इन्द्राय स्वाहा। इदमिन्द्राय–इदन्न मम ।।

—इन दोनों मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आहुति दे।

आज्यभाग का अर्थ है घृतांश। आज्यभाग की आहुतियां प्रजापति और इन्द्र को दी गयी हैं। प्रजापति सब प्रजाओं का उत्पादक और रक्षक परमात्मा[3] है, इन्द्र जीवात्मा[4] है। आंतरिक या बाह्य यज्ञ दोनों को ही निरंतर प्रवृत्त रखने के लिए सदा परमात्मा और जीवात्मा को स्मरण रखना आवश्यक है, अन्यथा मनुष्य बहिर्मुख एवं विषयों से आकृष्ट होकर यज्ञ-भावना से विचलित हो सकता है। प्रजापति और इन्द्र को ब्रह्मलोक का द्वारपाल कहा गया है।[5] इनसे वेदी के मध्य में आहुति इस कारण दी जाती है क्योंकि ये सृष्टि के केन्द्रभूत हैं।

अधिदैवत में प्रजापति सूर्य[6] है और इंद्र अंतरिक्षस्थानीय वायु[7]। ताप और वायु से ही जड़-चेतन सृष्टि-यज्ञ चल रहा है। अधिभूत में प्रजापति प्रजापालक राजा[8] है, इन्द्र वीर सेनापति है,[9] जिससे राष्ट्र-यज्ञ चल रहा है।

---

१. उत्तरमाग्नेयं दक्षिणं सौम्यम्। आश्व. गृह्य. १.१०.१४।
२. किन्हीं के मत में यह आहुति मौन रूप से देनी चाहिए। द्रष्टव्यः युधिष्ठिर मीमांसक : 'वैदिक-नित्यकर्म-विधि' संस्करण १९८०, पृ. ८४-८५। परन्तु स्वामी जी ने यहां ऐसा विधान नहीं किया है।
३. ब्रह्म वै प्रजापतिः। शत. १३.६.२.८; प्रजापतिः प्रजापालक ईश्वरः। यजु. १४.३ दया. भाष्य।
४. इंद्रियमिंद्रलिङ्ग. पा. ५.२.९३ इति सूत्राशयादिन्द्रशब्देन जीवस्यापि ग्रहणम् ऋग्. .१.२.६ दया. भाष्य।
५. इन्द्रप्रजापती (ब्रह्मलोकस्य) द्वारपालौ। शां. आ. ३.३, कौ. उप. १.३
६. अथो एष वै प्रजापतिर्योऽसौ (आदित्यः) तपति। जै. ब्रा. २.३७०
७. यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः। शत. ४.१.३.१९
८. प्रजापतिः प्रजापालकः सभेशो राजा। यजु. १९.७५
९. इन्द्र शत्रूणां विदारयितः (सेनापते)। ऋग्. १.८४.४ दया. भाष्य।

आज्याभागाहुतियों के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि ये दो आहुतियां यज्ञ के दो चक्षु हैं, इन्हें यथाविधि करने वाला यजमान इहलोक और परलोक दोनों में चक्षुष्मान् हो जाता है।[1] प्रथम आज्यभाग भूतकाल है, उत्तर आज्यभाग भविष्यत् काल है। इसे करने वाले का भूत, भविष्य और बीच का वर्तमान उज्ज्वल हो जाता है।[2] सचमुच मंत्रों में जो भावना निहित है, उसका ध्यान करते हुए यज्ञ करें तो यज्ञकर्ता का जीवन उज्ज्वल और यशोमय हो सकता है। वर्तमान और भविष्य तो उज्ज्वल हो ही जाता है, उसके भूत जीवन में यदि कोई दोष भी रहा है तो भी लोग उसकी ओर ध्यान न देकर उसकी यशोगाथा का ही गान करते हैं एवं भूत भी उज्ज्वल हो जाता है।

प्रधान आहुतियाँ[3]

प्रातःकालीन आहुतियां

विधि—नीचे लिखे हुए मंत्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करें—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥
ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥
ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥
ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या ।
जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥[3]

(सूर्यः) प्रातःकालीन सूर्य (ज्योतिः) अनुपम ज्योति है। (ज्योतिः) परमात्म-ज्योति भी (सूर्यः) सूर्य कहलाती है। (स्वाहा) इनकी मैं सु-स्तुति करता हूं/करती हूं, और इनके नाम से अग्नि में आहुति देता हूं/देती हूं। १।

---

१. शत. १.६.३.३८, ४१ २. शत. ११.२.७.१३

३. अब तक सुगन्धित घृत या मोहनभोग की आहुतियां दी जा रही थीं। यहां से प्रधान आहुतियां सुगन्धित घृत से तथा उसके अतिरिक्त जो भी सुगन्धित द्रव्य, पुष्टिकारक द्रव्य, मिष्ट द्रव्य एवं रोगनाशक ओषधियों के मिश्रण से हव्य और पाक आदि तैयार कर रखा हो, उससे दी जा सकती हैं। इन चारों प्रकार के हव्यों के लिए द्रष्टव्य : संस्कारविधि, सामान्य प्रकरण।

(सूर्यः) प्रातःकालीन सूर्य (वर्चः) ब्रह्मवर्चस को देने वाला है। (ज्योतिः) परमात्म-ज्योति भी (वर्चः) ब्रह्मवर्चस को देने वाली है। (स्वाहा) इनकी मैं सुस्तुति करता हूं/करती हूं और इनके नाम से अग्नि में आहुति देता हूं/देती हूं। २।

(ज्योतिः) यह आकाश में उदित प्रातःकालीन ज्योति (सूर्यः) सूर्य है। (सूर्यः) परमात्मा रूपी सूर्य भी (ज्योतिः) ऐसी ही ज्योति है। (स्वाहा) इनकी मैं सुस्तुति करता हूं/करती हूं और इनके नाम से अग्नि में आहुति देता हूं/देती हूं। ३।

(देवेन[1]) प्रकाशक (सवित्रा[2]) सर्वोत्पादक प्रेरक, सर्वान्तर्यामी परमात्मा के साथ (सजूः[3]) समान प्रीति वाला, तथा (इन्द्रवत्या[4] उषसा) प्राणमयी उषा के साथ (सजूः) समान प्रीति वाला (सूर्यः) प्रातःकालीन सूर्य (जुषाणः) हमसे प्रीति या अनुकूलता रखता हुआ (वेतु[5]) हमारी आहुति का भक्षण करे तथा हमसे रोगादि को दूर करे। (स्वाहा) उसके प्रति मैं आहुति देता हूं/देती हूं। ४।

यजुर्वेद तृतीय अध्याय के मन्त्र ९ और १० के शतपथ ब्राह्मण[6] व कात्यायन श्रौतसूत्र[7] आदि के अनुसार दो-दो भाग कर लिये गये हैं, एक भाग प्रातः-कालीन अग्निहोत्र में और दूसरा भाग सायंकालीन अग्निहोत्र में विनियुक्त कर लिया गया है। यजुर्वेद के मूल मन्त्र इस प्रकार हैं—

---

१. दिवु कान्त्यर्थः। 'देवेन सूर्यादिप्रकाशकेन' यजु. ४.१० दया. भाष्य।

२. सर्वस्य जगत उत्पादकेनेश्वरेण, सर्वान्तर्यामिना जगदीश्वरेण। यजु.४.१० दया. भाष्य। षुञ् अभिषवे, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, अभिषवः प्राणिगर्भविमोचनं चोत्पादनम्। यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः। स. प्र., समु. १। उत्तमगुणकर्मस्वभावेषु प्रेरकेश्वर, यजु. ३०.३ दया. भाष्य।

३. सवित्रा देवेन प्रेरकेण परमेश्वरेण सह सजूः 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' जोषणं जूः, समाना जूः प्रीतिर्यस्यासौ सजूः—महीधर। यः समानं जुषते सेवते सः —दया.।

४. प्राण एवेन्द्रः। शत. १२.९.१.१४

५. वेतु प्राप्नोतु, आहुतिं भक्षयतु, रोगादीन् अस्यतु वा। वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु।

६. शतः २.३.१.३०-३८। ७. का. श्रौ. सू. ४.१४.१४, १५; ४.१५.९-११

अ॒ग्निर्ज्योति॒र्ज्योति॑र॒ग्निः स्वाहा॑ ।
सूर्यो॒ ज्योति॒र्ज्योतिः॒ सूर्यः॒ स्वाहा॑ ।
अ॒ग्निर्वर्चो॒ ज्योति॒र्वर्चः॒ स्वाहा॑ ।
सूर्यो॒ वर्चो॒ ज्योति॒र्वर्चः॒ स्वाहा॑ ।
ज्योतिः॒ सूर्यः॒ सूर्यो॒ ज्योतिः॒ स्वाहा॑ ॥
स॒जूर्दे॒वेन॑ सवि॒त्रा स॒जू रात्र्येन्द्र॑वत्या ।
जु॒षा॒णो अ॒ग्निर्वे॑तु स्वाहा॑ ।
स॒जूर्दे॒वेन॑ सवि॒त्रा स॒जूरु॒षसेन्द्र॑वत्या
जु॒षा॒णः सूर्यो॑ वे॒तु स्वाहा॑ ॥[1]

प्रातःकालीन मन्त्र सूर्य-सम्बन्धी हैं। प्रातः अग्निहोत्र सूर्योदय के पश्चात् किया जाता है।[2] अतः सूर्य के मन्त्रों द्वारा आहुति दी जाती है। सूर्य का अर्थ जहां प्रातः उदित होने वाला प्राकृतिक सूर्य है, वहां साथ ही यह परमेश्वर का वाची भी है।[3] जहां अग्निहोत्र-कर्ता उदित होते हुए प्राकृतिक सूर्य पर दृष्टि डालता है, वहां वह परमेश्वर की ज्योति को भी स्मरण करता है। द्वितीय मन्त्र में दोनों को वर्चस्वी एवं वर्चस्विता को देने वाला कहा है। प्रथम और तृतीय मन्त्र में शब्द वे ही हैं, किन्तु उनके क्रम में अन्तर होने से उद्देश्य और विधेय बदल गये हैं, जिससे तात्पर्य में भी अन्तर आ जाता है। चतुर्थ मन्त्र में सूर्य की उपयोगिता को देखते हुए कहा है कि वह सूर्य हमारी आहुति का भक्षण करे तथा हमसे रोगादि अनिष्टकारियों को दूर करे। यज्ञ से जो हविर्धूम उठता है, वह सूर्यकिरणों द्वारा विश्लेषण किया जा कर अधिक स्वास्थ्यप्रद हो जाता है। उस सूर्य के दो विशेषण दिये गये हैं। प्रथम विशेषण **'देवेन सवित्रा सजूः'** से ज्ञात होता है कि सूर्य अपने आप में स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु परमेश्वर की ही शक्ति से शक्तिमान्

---

१. यजु. ३.९, १०
२. द्रष्टव्यः का. श्रौ. सू. ४.१५.१२, १३ तथा उस पर कर्क-टीका।
३. यौगिक दृष्टि से 'सरति जानाति प्रकाशयति चराचरं जगत् तस्य चराचरात्मनः परमेश्वरस्य' यजु. १.३१, दया. भाष्य। अलंकार शास्त्र की दृष्टि से अतिशयोक्ति द्वारा परमेश्वर साक्षात् सूर्य है।

होता है—**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**[१]। दूसरे विशेषण **'इन्द्रवत्या उषसा सजूः'** में कहा है कि वह प्राणमयी उषा का सहचर है। इससे यह बात सूचित होती है कि यजमान और यजमानपत्नी सूर्य और उषा के समान तेजस्वी एवं प्राणवान् हों।

सायंकालीन आहुतियां

विधि—नीचे लिखे हुए मन्त्रों से सायंकाल में अग्निहोत्र करें—

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥
ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥
ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥

—इस तृतीय मन्त्र को मन से उच्चारण करके आहुति दें।

ओम् सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या।
जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥

(अग्निः) सायंकालीन अग्नि (ज्योतिः) अनुपम ज्योति है। (ज्योतिः) परमात्मज्योति भी (अग्निः) अग्नि कहलाती है[२]। (स्वाहा) इनकी मैं सुस्तुति करता हूं/करती हूं और इनके नाम से आहुति देता हूं/देती हूं।

(अग्निः) सायंकालीन अग्नि (वर्चः) ब्रह्मवर्चस को देने वाला है। (ज्योतिः) परमात्म-ज्योति भी (वर्चः) ब्रह्मवर्चस को देने वाली है। (स्वाहा) इनकी मैं सुस्तुति करता हूं/करती हूं और इनके नाम से अग्नि में आहुति देता हूं/देती हूं।

(अग्निः) जीवात्मा[३] (ज्योतिः) ज्योति है, (ज्योतिः) परमात्मज्योति भी (अग्निः) अग्नि कहलाती है। (स्वाहा) इनका मिलन कल्याणकारी है, इनके नाम से आहुति देता हूं/देती हूं।

(देवेन) प्रकाशक (सवित्रा) सर्वोत्पादक, सर्वान्तर्यामी प्रेरक परमात्मा के साथ (सजूः) समान प्रीति वाला तथा (इन्द्रवत्या रात्र्या) प्राण-मयी रात्रि

---

१. क० ५.१५।

२. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। ऋग्.१.१६४.४६

३. आत्मैवाग्निः। शत. ६.७.१.२०

के साथ (सजूः) समान प्रीति वाला (अग्निः) यज्ञाग्नि (वेतु) आहुति का भक्षण करे तथा रोग, पाप आदि का निवारण करे। (स्वाहा) उसके प्रति मैं आहुति देता हूं/देती हूं।

सायंकालीन अग्निहोत्र सूर्यास्त-काल में किया जाता है[१]। सायं सूर्य अग्नि को अपना प्रतिनिधि छोड़ कर स्वयं अस्त हो जाता है।[२] अतः सायं अग्निहोत्र में उपर्युक्त आग्नेय मन्त्र पढ़े जाते हैं। यहां भी अग्नि-ज्योति के साथ परमात्म-ज्योति को स्मरण किया गया है तथा वर्चस् की प्रार्थना भी की गयी है। दोनों कालों में वर्चः सम्बन्धी मन्त्रों से होम करने का लाभ बताते हुए शतपथकार कहते हैं कि इससे यजमान ब्रह्मवर्चस्वी हो जाता है।[३] तृतीय मन्त्र प्रथम मन्त्र के ही समान है, किन्तु उसका अर्थ उपर्युक्त प्रकार से भिन्न करके यहां भौतिक अग्नि, परमात्माग्नि तथा जीवात्माग्नि तीनों गृहीत करने चाहिएं। भौतिक यज्ञाग्नि में हवि देते हुए हम जीवात्माग्नि और परमात्माग्नि के मिलन की भी कामना करते हैं। इस तृतीय मन्त्र को मन से उच्चारण करके आहुति देने का विधान महर्षि ने किया है।[४] मौन आहुति की एक व्याख्या यह हो सकती है कि इस मन्त्र में अग्नि का अन्तर्दर्शन किया गया है; साधक अन्तर्मुख होकर अग्नि का आत्मा और परमात्मा रूप में दर्शन करता है। इस मानस प्रक्रिया के अनुष्ठानार्थ वाणी को क्षण भर के लिए विराम दे दिया जाता है।[५] प्रातःकाल के चतुर्थ मन्त्र में उषा को इन्द्रवती तथा सायंकाल के चतुर्थ मन्त्र में रात्रि को इन्द्रवती कहा गया है।

---

१. यदा ह्येव सूर्योऽस्तमेति अथ 'अग्निर्ज्योतिः' यदा सूर्य उदेत्यथ 'सूर्यो-ज्योतिः'। शत. २.३.१.३०

२. 'अग्निमादित्यः सायं प्रविशति' इति तित्तिरिश्रुतिः। द्र. मही. भाष्यम् यजु. ३.९।

३. अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्च : सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसी हैव भवती य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति। शत. २.३.१.३१। तुलना : अग्निर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसकामस्य का. श्रौ. सू. ४.१४.१५।

४. तुलनीय : तूष्णीमुत्तरां भूयसीम्। का. श्रौ. सू. ४.१४.१७।

५. पं० युधिष्ठिर मीमांसक का समाधान इस प्रकार है—प्रातःसायं दोनों समय की आहुतियों की संख्या बराबर करने के लिए प्रथम मन्त्र की पुनरुक्ति की है। जामित्व = 'एक जैसा' दोष की निवृत्यर्थ इस मन्त्र से मन में उच्चारण करके आहुति दी जाती है। दैनिक-अग्निहोत्र विधि रामलाल कपूर ट्रस्ट, पृ. ८९।

इन्द्र का अर्थ प्राण करने पर दोनों को इन्द्रवती कहना सार्थक हो जाता है। उषा आग्नेय प्राण से युक्त है तथा रात्रि सौम्य प्राण से। प्रातःकालीन और सायंकालीन आहुति के ये सब मन्त्र शतपथ में पुत्रोत्पत्ति प्रदान करने वाले कहे गये हैं।[1]

प्रातः सायं दोनों काल के समान मन्त्र

विधि—आठ मन्त्रों से प्रातः सायं दोनों समय आहुति दें—

प्रथम चार मन्त्र—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा। इदमग्नये प्राणाय-इदन्न मम॥

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा। इदं वायवेऽपानाय-इदन्न मम॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा। इदमादित्याय व्यानाय-इदन्न मम॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा।

इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः-इदन्न मम[2]॥

(ओम्) परमेश्वर (भूः) सत्स्वरूप है, (अग्नये)[3] इस अग्रणी, सब यज्ञों में आगे लाये जाने वाले, वेदादि शास्त्रों और विद्वानों से प्राप्तव्य एवं सत्करणीय,

---

१. शत. २.३.१.३२, ३३, ३७, ३८।

२. ऋ. भा. भू. में प्रदत्त सूचना के अनुसार ये चारों मन्त्र तैत्तिरीय उपनिषद् का आशय लेकर एकत्र किये गये हैं। द्रष्टव्यः तै. उ., शिक्षावल्ली, अनु. ५। तैत्ति. आ. १०.२ में भी इन मन्त्रों से कुछ मिलती-जुलती रचना है, किन्तु वहां प्राण, अपान, व्यान के साथ पर पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ का नाम है।

३. अग्निः कस्माद् अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते (निरु. ७.१४)। अञ्च्यते प्राप्यते सत्क्रियते वा वेदादिभिः शास्त्रैर्विद्वद्भिश्चेत्यग्निः परमेश्वरः। पंच. म. विधि, गुरुमन्त्र-व्याख्या।

तथा (प्राणाय)[१] सबको जीवन देने वाले परमेश्वर के लिए (स्वाहा) मैं अग्नि में आहुति दान के प्रतीक से आत्म-समर्पण करता हूं/करती हूं। (इदं) यह समर्पण (अग्नये प्राणाय) अग्नि और प्राण नाम वाले उस परमेश्वर के लिए है, (इदं न मम) यह समर्पण अहंकार के साथ नहीं किया गया है।

(ओम्) परमेश्वर (भुवः) चित्स्वरूप है, (वायवे)[२] उस सब जगत् को जानने तथा धारण करने वाले तथा (अपानाय)[३] मुमुक्षु एवं मुक्त अपने धर्मात्मा सेवकों के सब दुःखों को दूर करने वाले दयालु परमेश्वर के लिए (स्वाहा) मैं अग्नि में आहुति-दान के प्रतीक से आत्म-समर्पण करता हूं/करती हूं। (इदं) यह समर्पण (वायवे अपानाय) वायु और अपान नाम वाले परमेश्वर के लिये है, (इदं न मम) यह समर्पण अहंकार के साथ नहीं किया गया है।

(ओम्) परमेश्वर (स्वः) आनन्दस्वरूप है। (आदित्याय)[४] उस अविनाशी स्वप्रकाशस्वरूप (व्यानाय)[५] सकल जगत् को चेष्टा कराने वाले परमेश्वर के लिए (स्वाहा) मैं अग्नि में आहुतिदान के प्रतीक से आत्म-समर्पण करता हूं/करती हूं। (इदं) यह समर्पण (आदित्याय व्यानाय) आदित्य और व्यान नाम वाले परमेश्वर के लिए है। (इदं न मम) यह समर्पण अहंकार के साथ नहीं किया गया है।

(ओम्) परमेश्वर (भूः भुवः स्वः) सच्चिदानन्दस्वरूप है। (अग्निवाय्-वादित्येभ्यः) अग्नि, वायु और आदित्य नामों वाले, तथा (प्राणापानव्यानेभ्यः) प्राण, अपान और व्यान नामों वाले परमेश्वर के लिए (स्वाहा) मैं अग्नि में आहुति-दान के प्रतीक के साथ आत्म-समर्पण करता हूं/करती हूं। (इदं)

---

१. प्राणयति जीवयति सर्वान् प्राणिनः स प्राणः प्राणादपि प्रियस्वरूपो वा, स चेश्वर एव। पंच. म. विधि, गुरुमन्त्र व्याख्या।
२. यो वाति जानाति धारयति अनन्तबलत्वात् सर्वं जगत् स वायु। स चेश्वर एव भवितुमर्हति। वही
३. यो मुमुक्षूणां मुक्तानां स्वसेवकानां धर्मात्मनां सर्वदुःखमपानयति दूरी-करोति सोऽपानो दयालुरीश्वरोऽस्ति। वही
४. न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः अदितिरेव आदित्यः, स.प्र., समु. १। "जिसका कभी नाश न हो और जो स्वप्रकाशस्वरूप हो, इससे परमात्मा का नाम आदित्य है"—आर्याभि. २.४. में यजु. ३२.१ की व्याख्या।
५. व्यानयति चेष्टयति प्राणादि सकलं जगत् स व्यानः सर्वाधिष्ठानं बृहद् ब्रह्मेति। पंच. म. विधि, गुरुमन्त्रव्याख्या।

यह समर्पण (अग्निवाय्वादित्येभ्यः) अग्नि, वायु और आदित्य नामों वाले तथा (प्राणापानव्यानेभ्यः) प्राण, अपान और व्यान नामों वाले परमेश्वर के लिए है। (इदं न मम) यह समर्पण अहंकार के साथ नहीं किया गयाहै।

एक अन्य व्याख्या

इन मन्त्रों की पूर्वोक्त परमेश्वर-परक व्याख्या के अतिरिक्त निम्नलिखित व्याख्या भी हो सकती है।

१. भूमिष्ठ अग्नि के लिए तथा प्राण के लिए मैं आहुति देता हूं/देती हूं। वैदिक साहित्य के अनुसार पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में क्रमशः अग्नि वायु और आदित्य नामक दिव्य वस्तुएं निवास करती हैं। भूमिष्ठ प्रत्येक पदार्थ में अग्नि-तत्त्व रहता है। ओषधियों में, जलों में, पाषाणों में, पुरुषों में, गौओं में, अश्वों में सब में अग्नि है—

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः॥[1]

स्वाहापूर्वक आहुति देते हुए उस अग्नितत्व को धारण कर हमें तेजस्वी बनना है। इसीलिए कहा है कि अग्नि को साड़ी की तरह पहने हुए स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाने वाली मातृभूमि हमें तेजस्वी और क्रियाशील बना दे—

अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु॥[2]

भूमि के आग्नेय गुण को धारण करने से हमारा प्राण बलवान् होगा और प्राण के बलवान् होने पर हम सर्वविध पुष्टि को प्राप्त कर सकेंगे।

२. आकाश-संचारी वायु के लिए तथा अपान के लिए मैं आहुति देता हूं/देती हूं। आकाशेय शुद्ध वायु के सेवन से हम अपने शरीर के अपान को अर्थात् मलों एवं शरीरस्थ दोषों के बाहर निकालने की शक्ति को प्रबल कर सकते हैं।

३. द्युलोकस्थ आदित्य के लिए तथा व्यान के लिए मैं आहुति देता हूं/देती हूं। द्युलोकस्थ आदित्य अपनी रश्मियों को पृथिवी पर भेजता है, जिससे जड़-चेतन में व्यान अर्थात् सब प्रकार की चेष्टा या गति आती है। शरीरस्थ 'व्यान' का कार्य भी अंगों की चेष्टा कराना है। सूर्य के सेवन से

---

१. अथर्व. १२.१.१९ २. अथर्व. १२.१.२१

हम अपने 'व्यान' को प्रबल बनायें, जिससे शरीर की और मन की निश्चेष्टता दूर हो।

४. चतुर्थ मन्त्र में इन्हीं भूमि-अन्तरिक्ष-द्यौ, अग्नि-वायु-आदित्य तथा प्राण-अपान-व्यान को समन्वित रूप से स्मरण किया गया है। अकेला-अकेला भूलोक, अन्तरिक्ष लोक या द्युलोक, अकेले-अकेले अग्नि, वायु या आदित्य और अकेले-अकेले प्राण, अपान या व्यान हमें विशेष लाभ नहीं पहुंचा सकते। इनका पारस्परिक सामंजस्य होना आवश्यक है, यह निर्देश इस मन्त्र से प्राप्त होता है।

पंचम मन्त्र

ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥[1]

(ओम्) परमेश्वर (आपः) आपः, (ज्योतिः) ज्योति, (रसः) रस (अमृतम्) अमृत, (ब्रह्म) ब्रह्म, (भूः) भूः, (भुवः) भुवः, (स्वः) स्वः (ओम्) ओम् इन सब नामों वाला है। स्वाहा[2] अग्नि में आहुति देते हुए हम उसकी स्तुति करते हैं।

ये सब परमेश्वर के नाम हैं। सर्वव्यापक होने से वह 'आपः[3]' है। ज्योतिष्मान् होने से वह 'ज्योतिः' है। भक्तजनों द्वारा रसनीय होने से वह 'रस[4]' है। अमर होने से वह 'अमृत[5]' है। सबसे महान् होने से उसका नाम 'ब्रह्म[6]' है। सत्स्वरूप होने से 'भूः', चित्स्वरूप होने से 'भुवः' तथा आनन्दस्वरूप होने से 'स्वः' है। सबका रक्षक, उत्पत्ति स्थिति-प्रलयकर्ता आदि

---

१. तुलनीयः आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्, इति। तै. आ. १०.१५
२. तस्यै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनार्थं सर्वजगदुपकारायैकाहुतिं दद्मः। पं. म. विधि, देवयज्ञ।
३. तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः। यजु. ३२.१। आपः सर्वत्र व्यापकत्वादिति दया.।
४. रस्यते आस्वाद्यते भक्तजनैरिति रसः, रस आस्वादनस्नेहनयोः। 'रसो वै सः' तै. उप., ब्रह्मवल्ली ७। 'रस ओंकारः' जै. ब्रा. २.७८।
५. अथ यद् ब्रह्म तदमृतम्। जै. उ. ब्रा. १.८.१.१०
६. सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म। स प्र., समु. १

होने से उसका नाम 'ओम्'[1] है। ऐसे परमेश्वर का हम सूक्ति-गान[2] करते हैं।

द्वितीय अर्थ–(आप:) नदियां,(ज्योति:) अग्नि, विद्युत्, सूर्यादि की ज्योति, (रस:) औषधियों का रस अथवा गोरस (अमृतम्[3]) घृत, प्राण, दीर्घायुष्य या मुक्ति, (ब्रह्म[4]) वेद, (भू:) भूमि, (भुव:) अन्तरिक्ष, (स्व:) द्युलोक और इन सबमें जिसका कर्तृत्व दिखाई देता है वह (ओम्,) परमेश्वर, (स्वाहा) इन सबके गुणों का हम कीर्तन करते हैं तथा अपने जीवन में इनसे यथायोग्य लाभ उठाते हैं।

अन्त के तीन मन्त्र

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥[5]

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रं तन्न आ सुव स्वाहा ॥[6]

ओम् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम स्वाहा[7] ॥

षष्ठ मन्त्र—(अग्ने) हे ज्ञान-प्रकाश से युक्त परमेश्वर और भौतिक प्रकाश से जाज्वल्यमान यज्ञाग्नि! (यां मेधां) जिस बुद्धि को (देवगणा:) विद्वज्जन (पितर: च) और हमारे माता-पिता आदि ज्ञानवृद्ध या वयोवृद्ध जन (उपासते) समीप से सेवन करते हैं, (तया मेधया) उस बुद्धि से (अद्य) आज

---

१. अवति रक्षतीत्योम्। 'अवतेष्टिलोपश्च' उणा. १.१४२ इति मन् प्रत्यय: तस्य टिलोपो धातोरूपधावकारयोरूठ् च। यद्वा 'अ-उ-म्' एषामक्षराणां संयोगेन ओमिति। विस्तार के लिए द्रष्टव्य: स. प्र., समु. १।

२. स्वाहा=सु आह।

३. 'अमृतं वा आज्यम्' तै. आ. २.१८.२: 'अमृतं वै प्राणा:' तै. सं २.६. ८.७; गो. ब्रा. २.१.१३, शत. ७.४.२.२१, 'अमृतम् आयु:' मै. सं. २.२.२; 'स्वर्देवा अगाम, अमृता अभूम' मै. सं. १.११.३।

४. वेदो ब्रह्म। जै. उ. ब्रा. ४.११.४.३

५. यजु. ३२.१४ ६. यजु. ३०. ३

७. अन्तिम दोनों मन्त्रों पर यजुर्वेद के जो पते दिये गये हैं, वहां स्वाहा पद मन्त्रों में नहीं है।

(मां) मुझे (मेधाविनं) प्रशस्त बुद्धि वाला (कुरु) कर। (स्वाहा) एतदर्थ हे परमेश्वर ! मैं तुझे आत्मसमर्पण करता हूँ/करती हूँ, तथा हे यज्ञाग्नि ! तुझमें आहुति देता हूँ/देती हूँ।

इस मन्त्र में बुद्धि की याचना की गयी है। बुद्धि सबसे बड़ा धन है। अतएव गायत्री मन्त्र में भी बुद्धि की ही प्रार्थना है। परमेश्वर सबसे बड़ा बुद्धि का स्रोत है। वह स्वयं भी परम मेधावी है, जो अपने बुद्धि कौशल से इस अद्भुत जगत् की रचना करता है। यज्ञाग्नि भी बुद्धि को प्रदान करता है। मस्तिष्क पर क्रिया करने वाली ओषधियों की आहुति से तथा अग्नि के तेज का ध्यान करने से मेधा-शक्ति प्रवल होती है। अतएव अग्नि से मेधाबुद्धि की प्रार्थना की गयी है। अग्नि अचेतन है, अतः अभिप्राय यह होता है कि हम स्वयं अग्निहोत्र करके अपनी बुद्धि को बढ़ायें। इस मन्त्र पर यजुर्वेद में महर्षि दयानन्द का भाष्य इस प्रकार है—

हे (अग्ने) स्वयंप्रकाश रूप होने से विद्या के जताने हारे ईश्वर वा अध्यापक विद्वान्, (देवगणाः) अनेकों विद्वान् (च) और (पितरः) रक्षा करने हारे ज्ञानी लोग (याम्) जिस (मेधाम्) बुद्धि वा धन[1] को (उपासते) प्राप्त होके सेवन करते हैं, (तया) उस (मेधया) बुद्धि वा धन से (माम्) मुझको (अद्य) आज (स्वाहा) सत्य वाणी से (मेधाविनम्) प्रशंसित बुद्धि वा धन वाला (कुरु) कीजिये।

सप्तम मन्त्र

इस मन्त्र पर महर्षि दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य में भावार्थ इस प्रकार है[2]—

हे (देव) उत्तमगुणकर्मस्वभावयुक्त (सवितः) उत्तम गुण-कर्म-स्वभावों में प्रेरणा देने वाले परमेश्वर ! आप हमारे (विश्वानि) सब (दुरितानि) दुष्ट आचरण वा दुःखों को (परासुव) दूर कीजिये और (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारी धर्मयुक्त आचरण वा सुख है (तत्) उसको (नः) हमारे लिये (आ सुव) अच्छे प्रकार उत्पन्न कीजिये।

'सविता' का अर्थ राजा लेकर इस मन्त्र का राजा-परक अर्थ भी हो सकता है। अतएव स्वामी जी वाचकलुप्तोपमा अलंकार मान कर निम्न भावार्थ लिखते हैं—

---

१. 'मेधां प्रज्ञां धनं वा। मेधेति धननाम, निघं. २.१०', संस्कृतपदार्थ।
२. इस मन्त्र की महर्षिकृत व्याख्या संस्कारविधि तथा ऋ. भा. भू. के प्रार्थनाप्रकरण में तथा ऋग्. ५.८२.५ के भाष्य में भी द्रष्टव्य है।

'यथोपासितो जगदीश्वरः स्वभक्तान् दुष्टाचारान्निवर्त्य श्रेष्ठाचारे प्रवर्तयति तथा राजापि प्रजा अधर्मान्निवर्त्य धर्मे प्रवर्तयेत् स्वयमपि तथा स्यात्', अर्थात् जैसे उपासना किया हुआ जगदीश्वर अपने भक्तों को दुष्ट आचरण से निवृत्त कर श्रेष्ठ आचरण में प्रवृत्त करता है, वैसे राजा भी अधर्म से प्रजाओं को निवृत्त करे धर्म में प्रवृत्त करे और आप भी वैसा होवे।

सूर्यपरक अर्थ—अग्निहोत्र-प्रकरण में इस मन्त्र का सूर्य-परक अर्थ भी ग्राह्य है। मन्त्र का देवता सविता है। सविता प्रातःकालीन तथा सायंकालीन दोनों समय के सूर्य को कहते हैं[1]। अतः दोनों समय के अग्निहोत्र में इसे सम्बोधन करते हुए कहते हैं—

(देव सवितः) हे प्रकाशमान और प्रकाशक तथा स्वकिरणों को भूमि पर प्रेरित करने वाले सूर्य! तू हमारे (विश्वानि दुरितानि) समस्त रोगों एवं आलस्य निस्तेजस्कता आदि दोषों को (परासुव) दूर कर दे; और (यद् भद्रं) जो आरोग्य-सुख, तेजस्विता आदि गुण हैं (तत्) उन्हें (नः आ सुव) हमें प्रदान कर।

अष्टममन्त्र—इस मन्त्र का अर्थ संस्कारविधि के प्रार्थनाप्रकरण में निम्नलिखित है—

हे (अग्ने) स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, सब जगत् के प्रकाश करने हारे (देव) सकलसुखदाता[2] परमेश्वर! आप क्योंकि (विद्वान्) सम्पूर्णविद्यायुक्त हैं, अतः कृपा करके (अस्मान्) हमं लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि[3]) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये, और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्[4]) कुटिलतायुक्त (एनः) पाप रूप कर्म को

---

१. द्रष्टव्य: 'उत रात्रीमुभयतः परीयसे' ऋग्. ५.८१.४, हे सवितः, तू रात्रि को दोनों ओर से अर्थात् प्रातः और सायं दोनों समय घेरता है।

२. देवो दानाद् वा। निरु.

३. वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा, निरु. ५.१५। वयुनमिति प्रशस्यनामसु प्रज्ञानामसु च पठितम्, निघं.३.८,९।

४. हुर्छा कौटिल्ये इति धातोः 'हुर्च्छेः सनो लुक् छलोपश्च' उणा २.९२ इत्यानच् प्रत्ययः।

(युयोधि[1]) दूर कीजिये, इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत कार की स्तुतिरूप (नमः उक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें।

अग्निपरक अर्थ—(अग्ने) हे अग्निहोत्र के अग्नि ! तू (विश्वानि) समस्त (वयुनानि) गतियों[2] को, मार्गप्रदर्शनों को (विद्वान्) जानने वाले के समान (अस्मान्) हमें (राये) तेज, ऊर्ध्वगामिता, स्वास्थ्य आदि ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए (सुपथा नय) श्रेष्ठ मार्ग से चलने की प्रेरणा कर। (देव) हे प्रकाशमान व प्रकाशक अग्नि ! (अस्मत्) हमारे जीवनों से (जुहुराणम् एनः) कुटिलताजन्य पाप को (युयोधि) पृथक् कर दे। एतदर्थ (ते) तेरे लिए हम (भूयिष्ठां) बहुत अधिक (नमः[3] उक्तिं) हविष्यान्नप्रदान की उक्ति अर्थात् स्वाहा (विधेम) करें।

अग्नि व्रतपति है अतः उससे प्रेरणा लेकर हम भी सत्पथ पर चलें। जैसे अग्नि अन्धकार से दूर रहता है, वैसे ही हम पापों से दूर रहें।

पूर्णाहुति

विधि—

ओं सर्वं वै पूर्णंꣳ स्वाहा[2] ॥१॥
ओं सर्वं वै पूर्णंꣳ स्वाहा ॥२॥
ओं सर्वं वै पूर्णंꣳ स्वाहा ॥३॥

इन मन्त्रों से तीन पूर्णाहुति अर्थात् एक-एक बार पढ़ के एक-एक करके तीन आहुति देवें।

(ओम्) परमेश्वर (सर्वं) सर्वशक्तिमान् है, तथा (वै) निश्चय ही (पूर्णं) पूर्ण है, किसी भी प्रकार की न्यूनता से रहित है, (स्वाहा) उसकी हम स्तुति प्रार्थना, उपासना करते हैं तथा उसे पूर्ण आत्मसमर्पण करते हैं।१।

(ओम्) हे परमेश्वर ! आपकी कृपा से (सर्वं) हमारा सम्पूर्ण दैनिक अग्निहोत्र (वै) निश्चय ही (पूर्णं) पूर्ण हो गया है। अतः (स्वाहा) हम पूर्णाहुति देते हैं।२।

---

१. यु मिश्रणामिश्रणयोः लोटि मध्यमैकवचने 'युहि' इति प्राप्ते बहुलं छन्दसीति शपः श्लौ द्वित्वे हेर्धिः।

२. वी गत्यादिषु।

३. नमः इत्यन्ननाम निघं. २:७।

(ओम्) हे परमेश्वर ! आपकी कृपा से (सर्वं) हमारा सम्पूर्ण आत्मिक अग्निहोत्र (वै) निश्चय ही (पूर्णं) पूर्ण हो गया है। अतः (स्वाहा) हम पूर्णाहुति देते हैं।३।

पूर्णाहुति में उपर्युक्त एक ही मन्त्र तीन बार उच्चारण किया गया है। एक बार परमेश्वर को आत्म-समर्पण की पूर्णाहुति, द्वितीय बार भौतिक अग्निहोत्र की पूर्णाहुति, तृतीय बार भौतिक अग्निहोत्र के साथ-साथ चलने वाले आत्मिक अग्निहोत्र की पूर्णाहुति की भावना जागरित करनी उचित है।

'सर्वं वै पूर्णम्' का एक भाव यह भी है कि 'सब ही पूर्ण हैं' अर्थात् किसी वस्तु के सब अवयवों के मिलने से ही पूर्णता आती है।[1] कोई व्यक्ति यदि पूर्ण बनना चाहता है तो अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा सबका उत्कर्ष करे। इसी प्रकार समाज में भी सब व्यक्तियों के उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव वाला होने पर ही पूर्णता आ सकती है। अतः व्यष्टि के साथ-साथ समष्टि को उन्नत करने का हम प्रयास करें—"प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" यह भावना अग्निहोत्र से इस प्रकार ग्रहण की जा सकती है कि अग्नि भी यजमान द्वारा दी गयी हवि को अपने पास नहीं रख लेता, किन्तु उसे प्रज्वलन द्वारा सर्वोपयोगी बना कर वायु के माध्यम से सबके कल्याण के लिए चारों ओर फैला देता है। तीन बार पूर्णाहुति-मन्त्र बोल कर इस भावना को हम हृदय में बद्धमूल करते हैं। पूर्णाहुति से सूचित यह भावना सम्पूर्ण अग्निहोत्र का निष्कर्ष है।

पूर्णाहुति के तीन मन्त्रों से निम्नलिखित प्रकार की तीन पूर्णताएं भी सूचित होती हैं—

शारीरिक पूर्णता	**मानसिक पूर्णता**	**आत्मिक पूर्णता**
वैयक्तिक पूर्णता	**राष्ट्रीय पूर्णता**	**विश्वजनीन पूर्णता**

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

□□

---

१. द्रष्टव्य : पूर्णाहुतिं जुहोति। सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वं परिगृह्य सूया इति। शत. ५.२.२.१

चतुर्थ दृश्य

आत्मिक अग्निहोत्र एवं अग्निहोत्र के भावनात्मक लाभ

१. आत्मिक अग्निहोत्र

प्रतिदिन अग्निहोत्र करते हुए हम यज्ञकुण्ड में भौतिक अग्नि को जगाते हैं। इस प्रज्वलित अग्नि के तेज को देखकर हमें अपने आत्मा में उस परमात्मा रूपी अग्नि की ज्योति को जगाना होता है। भौतिक अग्नि को यज्ञकुण्ड में जगाकर और उसमें आहुति डाल कर हम बाह्य अग्निहोत्र तो करते ही हैं, आज अन्तर्मुख होकर आत्मिक अग्निहोत्र का भी प्रक्रम बाँध लेवें।

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥[१]

"(अग्ने) हे परमात्माग्ने ! तू (उद्बुध्यस्व) उद्बुद्ध हो, (प्रतिजागृहि) मेरे हृदय में जाग। (त्वम्) तू (अयं च) और यह मेरा आत्मा, दोनों मिलकर (इष्टापूर्ते संसृजेथाम्) इष्ट और पूर्त का सर्जन करो। (अस्मिन् उत्तरस्मिन् सधस्थे अधि) इस उत्कृष्ट हृदयरूपी यज्ञमण्डप में (विश्वे देवाः) सब इन्द्रिय रूपी देव (यजमानश्च) और आत्मा रूपी यजमान (सीदत) आकर बैठो।

१. यजु. १५.५४

दिव्य अग्नि का जागरण

आज हम अपने हृदयरूपी यज्ञकुण्ड में अग्नि को जगाना चाहते हैं। यह अग्नि कौन है? यह वह परमात्माग्नि है, जो केवल इस भूगोल को ही नहीं, किन्तु ब्रह्माण्ड के सब लोक-लोकन्तरों को प्रकाशित करता है। सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत् आदि सब उसकी चमक से चमकते हैं, जैसा कि उपनिषद् के ऋषि ने कहा है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥[1]

सबका अग्रणी या पथप्रदर्शक होने से तथा समस्त शुभ कर्मों में आगे लाये जाने के कारण भी उसे अग्नि कहते हैं—

अग्निः कस्माद्? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते ॥[2]

इस परमात्माग्नि से कौन-सा स्थान खाली है? चर-अचर सभी में यह विद्यमान है। हमारे हृदय में भी इसका निवास है। जैसे तिलों में तेल, दधि में घृत, स्रोतों में जल या अरणियों में वह्नि रहती है, वैसे ही हम सबके हृदयों में यह परमात्माग्नि अव्यक्त रूप में स्थित है। उपनिषद् कहती है—

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥

गीता में कृष्ण अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—"**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**" अर्थात् भगवान् सब प्राणियों के हृदय में छिपे बैठे हैं।

आज हमारे अन्दर अव्यक्त रूप में बैठे हुए इस परमात्माग्नि को हमें जगाना है। जैसे यज्ञकुण्ड की समिधाओं में पहले से ही सूक्ष्म रूप में विद्यमान भौतिक अग्नि थोड़ी सी अन्य वह्नि से प्रकट हो जाती है, वैसे हमारे हृदयों में पहले से ही व्याप्त यह परमात्माग्नि थोड़े से योगानुभव से प्रदीप्त हो उठती है और तब इसे प्रकाशित करने के लिए नहीं, किन्तु न बुझने देने के लिए

---

१. कठ. ५.१५, मुण्डक २.११   २. निरुक्त ७.१४

ही प्रयत्न की अपेक्षा रहती है। निरन्तर समर्पण की हवि देते रहने से यह बुझने नहीं पाती।

इष्ट का पूर्त का सर्जन

यदि इस परमात्माग्नि को अपने हृदय में हमने जगा लिया है तो फिर अब आगे क्या करना है? मन्त्र में कहा है कि इसके बाद हम उस परमात्माग्नि के साथ मिलकर इष्ट और पूर्त्त का सर्जन करें। यह इष्ट और पूर्त्त क्या है? जहां तक हमारा बाह्य यज्ञ-यागादि से सम्बन्ध है, वहां तो स्मृतिकारों ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेव्यं च इष्टमित्यभिधीयते॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते॥

अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदानुपालन, आतिथ्य, वैश्वदेव्य आदि जितने भी यज्ञ-याग किये जाते हैं, वे सब 'इष्ट' नाम से पुकारे गये हैं। परोपकार के लिए, वापी, कूप, तडाग, यज्ञशाला, उद्यान आदि का निर्माण कराना 'पूर्त' है। ये इष्ट और पूर्त अग्नि प्रज्वलित कर ही किये जाते हैं, इसलिए इनका इस भौतिक यज्ञाग्नि से तो सम्बन्ध है ही; पर इनमें भी वही व्यक्ति प्रवृत्त होता है, जिसके हृदय में परमात्मा रूपी अग्नि जल रही होती है। स्वार्थ-त्यागपूर्वक ऊँचे उद्देश्य से किये जाने वाले इन शुभ कार्यों से आत्मिक अग्नि-होत्र न करने वाले सामान्यजन तो दूर ही रहते हैं। अतः हृदय में परमात्माग्नि को प्रज्वलित करने से भी इनका सम्बन्ध हो जाता है।

तो भी यहां आत्मिक अग्निहोत्र में हमें मुख्यरूप से अपने शरीर के अन्दर होने वाले इष्ट और पूर्त को देखना है। हमारा यह शरीर देवों की पुरी है—

अ॒ष्टाच॑क्रा नव॑द्वारा दे॒वानां॒ पूर॑यो॒ध्या॥[1]

इस शरीर में सब देव वैसे ही अवस्थित हैं, जैसे गौएं गोष्ठ में स्थित होती हैं—

सर्वा॑ अस्मिन् दे॒वता॑ गावो॑ नो॒ष्ठ इ॒वास॑ते॥[2]

---

१. अथर्व. १०.२.३१ २. अथर्व. ११.८.३२

मन, बुद्धि, प्राण, ज्ञानेन्द्रियाँ आदि ही शरीर के देव हैं। इन सबसे हम जो कुछ भी क्रियायें करते हैं, उन सबको हमें यज्ञमय बनाना है। इस प्रकार मनन, चिन्तन, प्राणन, दर्शन, श्रवण, गमन आदि अपनी सभी क्रियाओं को हमें 'इष्टि' का रूप देना है।

इसी प्रकार हमें अपने शरीर में क्षीण होती हुई शक्तियों को पूर्ण करना है। जो हमारे अन्दर अनेक छिद्र हो रहे हैं उन्हें भरना है, जैसा कि यजुर्वेद में कहा है—

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु ।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥[1]

अर्थात् जो मेरी आँख का, हृदय का या बुद्धि का छिद्र या दोष है, जो बहुत बड़ा होता जा रहा है, उसे बृहस्पति प्रभु भर देवे। इस प्रकार वह भुवन-पति परमेश्वर हमारे लिए मंगलकारी हो।

यही हमारे अन्दर का पूर्त है। पर अन्दर के ये इष्ट और पूर्त उसी समय होते हैं, जब हमारे अन्दर प्रसुप्त परमात्माग्नि जाग उठती है। अन्यथा जब परमात्मा रूप अग्नि का निवास न होकर हमारे अन्दर असुर की क्रव्याद् अग्नि जलने लगती है, तब हमारी सब क्रियायें यज्ञमयी न होकर आसुरी हो जाती हैं। हमारे अन्दर के छिद्र धीरे-धीरे गहरे और बड़े होते जाते हैं। हम इष्ट और पूर्त से दूर ही दूर चले जाते हैं। इसीलिए ऊपर के मन्त्र में इन्द्रियों के छिद्रों को भरने के लिए सब भुवनों के ईश्वर बृहस्पति से ही प्रार्थना की गई है। इस प्रकार हमने देख लिया कि कैसे परमात्माग्नि के साथ मिलकर ही आत्मा इष्ट और पूर्त का सम्पादन कर सकता है। इसीलिए परमात्माग्नि को सम्बोधन कर कहा गया है कि हे अग्ने! तुम हमारे हृदयों में जागो और जाग कर हमारे आत्मा के साथ मिलकर इस देहपुरी में इष्टपूर्त को रचाओ—

उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथामयं च ॥[2]

देवों तथा यजमान का आगमन

इस देहपुरी में यज्ञ रचाया जा रहा है। तो यज्ञमण्डप कौन-सा है? यज्ञ में आने वाले देव कहां हैं? और यजमान कौन हैं? मन्त्र में कहा है कि

---

१. यजु. ३६.२ २. यजु. १५.५४

इस उत्कृष्ट सधस्थ (सहस्थान-यज्ञमण्डप) में सब देव और यजमान आकर बैठें। बाहर के यज्ञ में तो निर्वाचित ऋत्विगगण और निमन्त्रित विद्वान् लोग ही 'देव' हैं और यज्ञ को रचाने वाला 'यजमान' है। पर इस अन्दर के यज्ञ में यह हृदय यज्ञशाला है। इसी को उत्तरसधस्थ कहा गया है। इस हृदय-मण्डप में आसन जमा कर सब देवों को और यजमान को यज्ञ का प्रक्रम बांधना है। हमारी इन्द्रियां ही देव हैं। जब यह आत्मिक अग्निहोत्र किया जा रहा है, तब इन्द्रियों को बाहर की यात्रा छोड़ कर अन्तर्मुख हो जाना है, और इन्हीं को यज्ञ की निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति के लिए ऋत्विज् बनना है। हमें अपनी सब इन्द्रियों को हृदय में केन्द्रित करना है। वहीं पर इन्हें अपना-अपना काम बांट कर यज्ञ को सम्पन्न करना है। तभी यह यज्ञ चल सकता है। 'आत्मा' इस यज्ञ का यजमान है। वह कल्याणप्राप्ति के लिए, योग-क्षेम और मोक्ष के लिए इस यज्ञ को रचाता है। गोपथ ब्राह्मण में इस विषय में एक प्रकरण इस प्रकार है—

पुरुषो वै यज्ञः, तस्य मन एव ब्रह्मा, प्राण उद्गाता, अपानः प्रस्तोता, व्यानः प्रतिहर्ता, वाग् होता, चक्षुरध्वर्युः, प्रजापतिः सदस्यः, अंगानि होत्राशंसिनः, आत्मा यजमानः[1]॥

इस वर्णन के अनुसार आध्यात्मिक-यज्ञ में होता का कार्य वाणी करती है, चक्षु अध्वर्यु, प्राण उद्गाता और मन ब्रह्मा होते हैं। ये ही यज्ञ के मुख्य चार ऋत्विज् हैं। वाणी होता के आसन पर बैठ कर अपने सूक्ष्मरूप से परमात्माग्नि का ही स्तोम-पाठ करती है। चक्षु अध्वर्यु बनकर अपनी दर्शन-शक्ति से समस्त यज्ञ के विनियोग को करती है। प्राण उद्गाता बन उसी का सामगान करता है। मन सब इन्द्रियों को एक केन्द्र में बांधने वाला है, उसके स्थिर तथा सावधान रहने पर ही ये सब शक्तियां उस यज्ञाग्नि के प्रति एकनिष्ठ रह सकती हैं। वही इस आत्मिक यज्ञ के सब विघ्नों को दूर करता है, सब इन्द्रियरूप ऋत्विजों का शासन करता है। इसलिए मन ही ब्रह्मा है। पुरुष-यज्ञ की इस कल्पना के विस्तार में जाने की यहां आवश्यकता नहीं है। यहां तो हमें यही देखना है कि इस आत्मिक यज्ञ में बैठने वाले देव हमारे शरीर में कौन से हैं। वह ब्राह्मणग्रन्थ के उपर्युक्त सन्दर्भ से स्पष्ट है। संक्षेप में कहना हो तो, शरीर की सब शक्तियां अन्तर्मुख होकर

---

१. गोपथ, उ० ५.४

इस यज्ञ के संपादन में लग जाती हैं एवं चक्षु मुख्यत: बाहर के दर्शन से उपरत हो, अन्तर्मुख होकर प्रज्वलित परमात्माग्नि का ही दर्शन करने लगते हैं। श्रोत्र बाह्य श्रवण से विमुख हो उसी परमात्माग्नि के संदेश को सुनने लगते हैं। इस प्रकार शरीर की सभी स्थूल एवं सूक्ष्म शक्तियां इस यज्ञ में देव बन कर यजमान आत्मा सहित हृदय के इस यज्ञ-भवन में आ उपस्थित होती हैं।

समिधा और घृत की आहुति

इस आत्मिक अग्निहोत्र की सब तैयारी हो चुकी। सब देव अपना-अपना काम बांट कर आसन पर विराजमान हैं। यजमान आत्मा भी यज्ञ की दीक्षा लेकर उपस्थित है। हृदय-देश संस्कृत हो चुका है। हृदय में अग्नि भी प्रज्वलित हो चुकी है। पर इस अग्नि को और अधिक प्रदीप्त करने के लिए तथा बहुत देर तक जागरित रखने के लिए इसमें हवि भी डालनी होगी, अन्यथा कहीं यह हल्के से आसुरी हवा के झोंके से बुझ ही न जाये। इसलिए हम इस प्रज्वलित अग्नि में समिधा और घृत की आहुति देते हैं—

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥[1]

(अङ्गिरः) हे मेरे अंगों के रस प्राणस्वरूप परमात्माग्ने! (तं त्वा) हमारे हृदयों में प्रकट हुए उस तुझको (समिद्भिः घृतेन वर्धयामसि) हम समिधाओं से और घृत से बढ़ाते हैं। (यविष्ठ्य) हे अतिशय प्रवृद्ध परमात्माग्ने! (बृहत् शोच) तू हमारे हृदयों में बहुत अधिक चमक, प्रकाशित हो।

उस अपने हृदयों में उद्बुद्ध हुए परमात्माग्नि को हम समिधा और घृत से प्रदीप्त करते हैं। **'समिधाग्निं दुवस्यत'** और **'सुसमिद्धाय शोचिषे'** मन्त्रों में भी समिधा और घृत का उल्लेख है। पर ये समिधा और घृत क्या हैं? इस अभौतिक सूक्ष्म अग्नि को काष्ठमयी समिधा और गव्य घृत की अपेक्षा नहीं है। इस आन्तरिक यज्ञ में तो हमारे शरीर के अन्दर की ही कोई वस्तु समिधा और घृत होनी चाहिए। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है—

अस्थि वा एतत् यत् समिधः। एतद् रेतो यदाज्यम् ॥[2]

१. यजु० ३.३ २. तै० ब्रा० १.१.९.४

हमारे शरीर में 'अस्थि' ही समिधा है, और 'वीर्य' घृत है। अथर्ववेद में भी लिखा है कि हमारे अन्दर प्रविष्ट होकर इन्द्रियरूपी देव जो यज्ञ रचा रहे हैं, उसमें उन्होंने रेतस् अर्थात् वीर्य से घृत का काम लिया है, और अस्थि को समिधा बनाया है—

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् ।
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥[1]

इसलिए अस्थि और वीर्य ही इस आन्तरिक यज्ञ में समिधा और घृत हैं। पर इनकी परमात्माग्नि में आहुति किस प्रकार दी जा सकती है, सो भी समझ लेना चाहिए। इस आन्तरिक अग्निहोत्र के समय हमें यह भावना जगानी होती है कि हे परमात्माग्ने ! अपने शरीर की अस्थियों को हम तेरे प्रति समर्पित करते हैं अर्थात् अपनी हड्डियों से हम जितने भी बल-कार्य करेंगे, वे सब तुझे लक्ष्य में रखकर होंगे, तुझे प्रज्वलित करने की दृष्टि से होंगे। उनसे तेरा ही प्रचार-प्रसार होगा, जैसा समिधा के होम से भौतिक अग्नि का प्रसार होता है। इसी प्रकार अपनी रेतःशक्ति को घृत बनायें। जैसे घृत के होम से अग्नि अधिकाधिक प्रदीप्त होती है, वैसे ही हम अपने रेतस् को परमात्माग्नि के अर्पण कर, ऊर्ध्वरेताः बनकर, परमात्माग्नि को अधिकाधिक बढ़ायें।

समिधा या अस्थि से हमारे शरीर के सभी स्थूल अंश का ग्रहण हो जाता है, और घृत या रेतस् हमारे अन्दर के तरल पदार्थ के उपलक्षक हैं। इसलिए केवल अस्थि और वीर्य ही नहीं, अपने शरीर के सभी स्थूलसूक्ष्म अंशों या शक्तियों का हमें उस परमात्माग्नि में होम करना है। अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये समिधा, घृत, चरु पुरोडाश आदि जो कुछ भी हवि है, वह सब इस अध्यात्म-यज्ञ में हमारे शरीर के ही किन्हीं अंगों का द्योतक है। उन-उन शरीर के अवयवों को परमात्मा को समर्पित करना ही अग्नि में उस हवि को डालना है। संक्षेप में कहना हो तो अपने शरीर के सब अंगों को अर्थात् उनसे किये जाने वाले व्यापारों को हमें परमात्मा के प्रति समर्पित कर देना है।

यह परमात्माग्नि में डाली हुई हमारी आहुति कहां जाती है ? जैसे भौतिक यज्ञाग्नि में दी हुई आहुति को अग्नि अपने पास न रखकर, उसे सूक्ष्म करके, लोकोपकार के लिए सर्वत्र फैला देता है, वैसे ही यह परमात्माग्नि

१. अथर्व ११.८.२९

भी हमारी आहुति को अपने तेज से सूक्ष्म और तेजस्वी बनाकर अधिक विस्तृत क्षेत्र वाला बना देता है। पहले हमारी सब शक्तियां अपने स्वार्थ के लिए थीं, तो अब उस परमात्माग्नि में आहुति होकर, उसके तेज से प्रदीप्त होकर वे विस्तृत क्षेत्र में फैल जाती हैं। अब परार्थ ही उनका लक्ष्य हो जाता है।

इस प्रकार उस परमात्माग्नि में हम आहुति डालते हैं। इससे वह हमारे अन्दर प्रकट हुआ अधिक प्रदीप्त और चिरस्थायी रह सकता है। हृदय में प्रकट हुए उस अग्नि को जब हम आहुति देकर अपने अंग-अंग में प्रविष्ट करा लेते हैं, तब हम शीघ्र बाहर के प्रलोभनों से आकृष्ट होकर उसे भूल जायेंगे, इसकी आशंका नहीं रहती। इस प्रकार वह अग्नि हमारे अन्दर स्थित हो जाती है, और जितना ही हम उसके प्रति अपनी शक्तियों के होम का अधिकाधिक अभ्यास करते रहते हैं, उतना ही अधिक वह प्रदीप्त और स्थिर होती जाती है। इस प्रकार यह आत्मिक अग्निहोत्र चलता है। प्रतिदिन के बाह्य अग्निहोत्र के साथ ही इस आत्मिक अग्निहोत्र की भावना को भी हम जगा सकते हैं।

२. अग्निहोत्र के भावनात्मक लाभ

शतपथ ब्राह्मण में जनक वैदेह और याज्ञवल्क्य का एक संवाद इस प्रकार है—हे याज्ञवल्क्य ! क्या तुम अग्निहोत्र को जानते हो ? जानता हूँ, सम्राट्। तो बताइये, अग्नि में किससे आहुति दी जाये ? दूध से। यदि दूध न मिले तो किससे आहुति दें। ब्रीहि और यव से। यदि ब्रीहि और यव भी न हों, तब किससे आहुति दे ? अन्य ग्राम्य ओषधियों से। यदि अन्य ग्राम ओषधियाँ भी न हों, तब ? आरण्य (जंगली) ओषधियों से। यदि आरण्य ओषधियाँ भी न हों, तब ? वानस्पत्य (वृक्षों के फूल, फल, पत्र, समिधा आदि) से। यदि वानस्पत्य भी न हों, तब ? जलों से। यदि जल भी न हों, तब ? कुछ भी नहीं था, तब भी होम तो चलता ही था। अतः कुछ भी न मिले तब सत्य की श्रद्धा में आहुति दे।[1]

त्याग की भावना

यह संवाद आपत्काल का विधान करने के साथ-साथ अग्निहोत्र में आहुति की भावना के महत्त्व का भी प्रतिपादन करता है। अग्निहोत्र से दो प्रकार के लाभ होते हैं, एक तो रोगनाशक एवं पुष्टिप्रद ओषधियों के होम द्वारा

१. शत. ११.३.१.१-३

आरोग्य-प्राप्ति, पुष्टि, वृष्टि आदि, और दूसरा भावनात्मक लाभ। आहुति देने में त्याग की भावना निहित है। अग्नि में जिस वस्तु की हम आहुति देते है, वह शक्तिकृत होकर पूर्वापेक्षया अधिक लाभकारी हो जाती है। वैसे ही जिस वस्तु का परोपकार के लिए हम दान करते हैं, वह वस्तु हमारे पास रह कर हमें जितना लाभ पहुँचाती, उसकी अपेक्षा शतगुणित लाभ अन्यत्र जाकर पहुँचाती है। अतः जब न अग्नि सुलभ हो, न कोई होम-द्रव्य सुलभ हो, तब भी त्याग की भावना को जगाने के लिए अग्निहोत्र के मन्त्र बोल कर ही हम अग्निहोत्र कर सकते हैं। प्रतीक रूप में हम स्वाहा बोल कर जल-कण या मृत्कण ही भूमि पर छोड़ सकते हैं। कुछ भी न हो तो याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सत्य की श्रद्धा में आहुति दे। सत्य अपने आप में जितना लाभकारी है, उसकी अपेक्षा शतगुणित लाभकारी हो जाता है जब श्रद्धा में उसकी आहुति पड़ती है अर्थात् श्रद्धा द्वारा शक्तिकृत हो जाता है। अग्निहोत्र में त्याग के अतिरिक्त निम्नलिखित कतिपय अन्य भावनाएं भी निहित हैं।

ऊर्ध्वगामिता

अग्नि की गति सदा ऊपर की ओर ही होती है—**प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।** यज्ञकुण्ड में अग्नि की ज्वालाएं वायु से लहराती हुई ऊपर की ओर उठ रही हैं, मानों वे यजमान को निमन्त्रण दे रही हैं कि आ, ओ हमारी तरह तुम भी ऊपर उठो, ऊर्ध्वगामी बनो, उन्नति के सोपान पर आरूढ हो जाओ—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः।
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।[1]

अग्निहोत्र की ऊर्ध्वगामी ज्वालाओं से प्रेरणा लेकर ही यजमान ऊर्ध्वगामिता की तरंग से तरंगित होकर कहता है—

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥[2]

अर्थात् मैं पृथिवी से ऊपर उठ कर अन्तरिक्ष में पहुँच गया हूँ, अन्तरिक्ष से द्युलोक में पहुँच गया हूँ और द्युलोक से स्वर्लोक की ज्योति में पहुँच गया

---

१. मुं. उ. २.६ २. यजु. १७.६७

हूँ। अभिप्राय यह है कि मैं जिस स्तर पर खड़ा था, उससे ऊपर उठता-उठता उन्नति के शिखर पर पहुँच गया हूँ।

तेजस्विता

अग्नि में तेजस्विता है। वह स्वयं भी तेजोमय है और अन्यों को भी तेजस्वी बनाता है। वह प्रकाशमान भी है और प्रकाशक भी है। अग्निहोत्री यह भावना ग्रहण करता है कि मुझे भी वैसा ही तेजस्वी बनना है—

यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम्।
यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम्।
यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम्॥[1]

भस्मीकरण

अग्नि के अन्दर भस्म करने की शक्ति है। अग्निहोत्री अग्नि से यह प्रेरणा लेता है कि मैं भी अपने वैयक्तिक और सामाजिक दोषों एवं पापों को भस्म कर अपने आप को तथा समाज को पवित्र कर लूंगा। अतएव वह अग्नि से प्रार्थना करता है—

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।
अप नः शोशुचदघम्॥
प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः।
अप नः शोशुचदघम्॥[2]

अर्थात् शरीर रूपी क्षेत्र को उत्कृष्ट बनाने की इच्छा से, सन्मार्ग पर चलने की इच्छा से और सद्गुणों की सम्पत्ति पाने की इच्छा से हम यज्ञ कर रहे हैं। हमारा पाप पूर्णतः भस्म हो जाये। तुझ प्रतापवान् अग्नि की ज्वालाएं चारों ओर उठ रही हैं। उनसे हमारा पाप पूर्णतः भस्म हो जाये।

अग्निहोत्र के साथ अपने आपको परमात्माग्नि की समिधा बनाना, स्वयं को अग्नि बना कर सौम्यता से आवेष्टित करना, 'इदं न मम' द्वारा अपने अन्दर निरभिमानिता को जागरित करना, सर्वविध पूर्णता प्राप्त करना आदि भावनाएं भी जुड़ी हुई हैं। उनका निरूपण अग्निहोत्र के मन्त्रों तथा उसकी विधियों की व्याख्या में किया जा चुका है, अतः यहाँ विस्तार नहीं किया जा रहा है। □□

---

१. आश्व. गृह्य. १.२१.४ २. ऋग्. १.९७.२,५

परिशिष्ट